इस तरह की सहायक पुस्तकें लेते समय हिंदी-भवन, लाहौर का नाम उन पर अवश्य देख लीजिए; क्योंकि हिंदी-भवन द्वारा प्रकाशित सहायक पुस्तकें सबसे अधिक शुद्ध तथा सुसंपादित होती हैं।

आलोचना समुच्चय

रामकृष्ण शुक्ल

हिन्दी-भवन, लाहौर

साहित्यमीमांसा की प्रश्नोत्तरी

(ले० श्रीकृष्णचंद्र जी विद्यालंकार सहायक संपादक वीर अर्जुन' दिल्ली

इसमें प्रभाकर के सब से अधिक कठिन और विवेचनात्म
ग्रंथ साहित्यमीमांसा का सारा विषय प्रश्न और उत्तर के रूप
दिया गया है। अंत में पुस्तक के कठिन शब्दों का अर्थ, साहित्य
मीमांसा एक दृष्टि में, और २ चार्ट देकर प्रश्नोत्तरी की मह
और बढ़ा दी गई है। प्रभाकर के प्रत्येक परीक्षार्थी को इस
एक प्रति अवश्य लेनी चाहिए। मूल्य १॥)

रामभक्तिशाखा की प्रश्नोत्तरी

(ले० श्री कमलेश साहित्यरत्न)

इसमे रामभक्तिशाखा के प्रत्येक अध्याय के प्रश्न इस प्रक
बनाए गए हैं कि एक पूरी श्रृंखला बन जाती है साथ ही
प्रश्नों के उत्तरों को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। पुस्त
मे आये कविताओं के और कठिन नाटकों के अर्थ दे
प्रश्नोत्तरी की उपयोगिता को द्विगुणित कर दिया गया है। प्रभाक
के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक पुस्तक। मूल्य १)

तरंगिणी की कुंजी

(ले० श्री विश्वंभर नाथ मानव एम. ए)

विद्वान लेखक ने इसमें प्रत्येक कविता का सामान्य अ
देकर भावार्थ बतलाकर रहस्यवादी कविताओं का आध्यात
पक्ष खोल कर और रचनाओं से संबंधित विभिन्न वादों
व्याख्या कर कविताओं को सौंदर्य को पूरी तरह व्यक्त कर दिया है
प्रत्येक कविता के आरंभ में साथ ही आलोचनात्मक परिचय भी
दिया गया है। प्रत्येक परीक्षार्थी के लिए अनिवार्य पुस्तक मू०२॥

आलोचना-समुच्चय

(हिन्दी के प्रमुख कवियों पर आलोचनात्मक दृष्टि)

प्रो. रामकृष्ण शुक्ल एम. ए. 'शिलीमुख'
महाराजा कालिज, जयपुर

प्रकाशक
हिन्दी-भवन, लाहौर

होने के बाद से ही काशी के एक जुलाहा-परिवार में पले थे, क्योंकि ये स्वयं कहते हैं—"मैं कासी क जुलाहा।" इनके जनक अथवा पोषक माँ-बाप का नाम नीमा और नीरू था, इनकी स्त्री का लोई तथा पुत्र और पुत्री का कमाल और कमाली।

कबीर साहब ऊँचे साधु थे। अतः हिन्दू-मुसलमान के अथवा और भी किसी प्रकार के जाति-पाँति के भेद-भाव या छुआछूत को नहीं मानते थे। धार्मिक मतों की कृत्रिमता और आडंबरों के, अंधविश्वासों तथा पर्व-त्योहारों आदि के भी विरोधी थे। मुसलमान होते हुए भी इन्होने पीर-पैगंबरो, ईद मसजिद आदि की निन्दा की है। कहते हैं, इस पर बादशाह लोदी इनसे नाराज हो गया और इन्हे जंजीरो से बँधवा कर उसने गंगा जी मे डलवा दिया। किन्तु इनका उससे बाल भी बाँका न हुआ और ये सुरक्षित रहे। इस पर कबीर जी ने लिखा है—

गंग लहर मेरी टूटी जंजीर। मृग-छाला पर बैठे कबीर।
कह कबीर कोउ संग न साथ। जल-थल राखत है रघुनाथ॥

इनके चमत्कार के बारे मे और भी कथाएँ प्रचलित हैं। समभाव साधु होने के कारण हिन्दू-मुसलमान दोनों ही इन्हे मानते थे। जब ये मरे तो हिन्दू-मुसलमानो मे झगडा हुआ। हिन्दू इन्हे जलाना चाहते थे और मुसलमान दफन करना। जब झगड़ा अधिक बढा तो आकाश-वाणी हुई, जिसने कफन उठाकर देखने के लिए लोगों से कहा। चादर उठाने पर कबीर जी के शव स्थान पर फूल रक्खे हुए दिखाई दिए जिन्हे हिन्दू-मुसलमानों ने आधा-दिधा बाँट लिया और दोनों ने अपनी रीति के अनुसार उनका [illegible]ार किया।

पहले कबीर भजन गा-गाकर लोगों को शिक्षा दिया करते थे। इन्होंने गुरु नहीं बनाया था। बिना गुरु के उपदेशक पर उस समय शायद लोगो की श्रद्धा नहीं होती होगी, जिस पर कुछ मनुष्यों ने इन्हें 'निगुरा' कहना आरम्भ कर दिया। इस पर रामानन्द जी को इन्होंने अपना गुरु बना लिया। पहले तो रामानन्द जी ने एक मुसलमान को अपना शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया, परन्तु वाद में इनकी अत्यंत भक्ति देखकर उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा।

रामानन्दजी काशी में उस समय के सब से बड़े विद्वान् महात्मा थे। कहाँ तो पहले कबीरदास जी 'निगुरे' रह कर ही उपदेश दिया करते थे और कहाँ रामानन्द जी के शिष्य बनकर गुरु-माहात्म्य के इतने जबरदस्त उपासक बने कि इन्होंने गुरु को ईश्वर से भी अधिक महत्त्व दिया। इन्होंने कहा है।

गुरु गोविद दोनों खड़े, काके लागों पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताय॥
कबिरा ते नर अन्ध है, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर॥

कबीरजी ने अपनी 'निगुरी' पूर्वावस्था का भी संकेत किया है—

जब कबीर हम गावते, तब जाना गुरु नाहिं।
गुरु को जबतें देखिया, गावन को कछु नाहिं॥

इस दोहे के तृतीय चरण का पाठान्तर 'अब गुरु दिल में देखिया' भी मिलता है। पाठान्तर स्वीकार करके 'गुरु' का अर्थ यदि 'ईश्वर' लगाया जाय तो यह दोहा लौकिक चहल-पहल

रत मनुष्यों पर भी लागू होता है; अथवा फिर इससे उनकी गुरु-भक्ति की गहनता सूचित होती है। गुरु अपने मूर्त रूप में, तथा उपदेश रूप में सदा उनके हृदय में रहते थे।

कबीरदास ने गुरु-महिमा पर बहुत अधिक लिखा है। ऊपर के दोहे का भाव बढ़ कर निम्नलिखित दोहे में आत्म-समर्पण का रूप ग्रहण कर लेता है—

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु है हम नाहिं।
प्रेम-गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥

परन्तु यहाँ भी 'गुरु' शब्द को 'ईश्वर' के अर्थ में माना जाय तो 'मैं' का अर्थ 'अहंकार भाव' होता है। पाठान्तर में 'गुरु' के स्थान में 'हरि' शब्द भी मिलता है। कबीर के ऐसे कितने ही पद मिलेंगे जिनमें 'गुरु' शब्द के दोनो अर्थ लगाये जा सकते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि ये गुरु को ईश्वर के समान मानते थे। परन्तु जहाँ उन्होंने 'सतगुरु' शब्द का प्रयोग किया है वहाँ अभिप्राय अधिकतर गुरु से ही है, यथा—

सतगुरु दीनदयाल हैं, दया करी मोहि आय।
कोटि जनम का पंथ था, पल में पहुँचा जाय।

अथवा

उततैं सतगुरु आइया, जाकी बुधि हैं धीर।
भवसागर के जीव कों, खेइ लगावैं तीर॥

कबीरजी की साधना प्रियतम-प्रियतमा भाव को लिए हुए थी। साधक स्त्री है और परमात्मा पुरुष अथवा प्रियतम है। गुरु का स्थान दूती का है, जो प्रियतमा को राह दिखाकर प्रियतम के पास पहुँचा देता है।

हरि मोर पिउ, मैं राम की बहुरिया।

और फिर—

यार बुलावे भाव से, मो पै गया न जाय,
धन मैली पिउ ऊजला, लागि न सक्कूँ पाँय।
जहाँ गैल सिलसिली, चढ़ौं गिरि गिरि परौं।
उठहुँ सँभारि सँभारि, चरन आगे धरौं।
समझ सोच पग धरौं जतन से बार बार डिग जाय,
ऊँची गैल राह रपटीली पाँव नाहि ठहराय।
अधर भूमि जहँ महल पिया का हम पै चढ़ा न जाय,
दूती सतगुरु मिले बीच में दीन्हो भेद बताय।

'हरि जननी मैं बालक तेरा,' अथवा 'अवगुण मेरे बापजी बकस गरीबनेवाज' जैसे वाक्यों मे परमात्मा को कबीर साहब ने माता एवं पिता के रूप मे भी ग्रहण किया है। पर यह उनकी पद्धति नहीं मालूम होती। प्रिय-प्रियतमा भाव के व्यंजक, विवाह-संबन्धी पद उनके बहुत से हैं।

कबीर साहब का तमाम साहित्य इस बात की सूचना देता है कि वे सब तरह के भेद-भावों के विरोधी थे, मिथ्या परंपराओं या परिपाटियों को नहीं मानते थे तथा पाखंड से उन्हे द्वेष था। वे सत्य कथन कहने वाले, स्पष्टवादी तथा तीव्र आलोचक थे, जिसके कारण कहीं कहीं उनकी वाणी मे थोड़ी सी उद्दंडता भी दिखाई दे जाती है—'साकत सुनहा दोनो भाई।

अथवा

कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी बन गैले हिजरा॥

समता-सूचक उनके पद प्रायः उदारता के व्यंजक हैं। जैसे—

कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिन्दू तुरक न कोई।

या—एक जोति तें सब ऊपजा, कौन बासन कौन सूदा।

यही सम-भावना और अधिक बढ़ कर प्राणिमात्र को एक ही कोटि में रख देती है—सबै जीव साईं के प्यारे।

परन्तु आलोचना में स्वभाव की ओजस्विता और कथन की कटुता खूब बढ़ी हुई है। वे कहते हैं—

लाडू लावर लापसी पूजा चढे अपार।
पूजि पुजारा ले चला दे मूरति के मुख छार॥

तथा—अरु भूले षटदरसन भाई। पाषंड भेष रहे लपटाई।

कहीं कहीं तो वे ललकारते नजर आते हैं, जिससे उनके स्वसंबंधी अहंकार का भी रूप भासित होता है। ब्राह्मण को डाँटते हुए कह रहे हैं—

तू ब्राह्मन मैं काशी क जुलाहा, बूझहु मोर गियाना।

परन्तु हमें ध्यान रखना चाहिए कि ब्राह्मणत्व का मिथ्या अभिमान रखनेवाले केवल 'ब्राह्मण'-नामधारी पाषंडी लोगों को लक्षित करके ही यह कहा गया है और इसकी भासमान अहंकार-वृत्ति वास्तव में पाषंड के विरोध की तीव्रता का ही एक स्वरूप है। क्योंकि दूसरी ओर ये परम सन्तोषी, सहृदय और अतिथि-सेवी भी दृष्टिगोचर होते हैं—

साईं इतना दीजिये, जामैं कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

प्रायः ये कपड़े का थान बुन कर बेचने ले जाते और रास्ते में कोई ज़रूरतमन्द साधु मिल जाता तो उसे दे डालते, घर

खाली हाथ ही लौट आते। यद्यपि जीविका के लिए ये अपना जुलाहे का कर्म करते थे, परन्तु धन से इन्हें घृणा थी। तभी तो अपनी तीव्र आलोचना के ढंग में इन्होंने अपने पुत्र कमाल के ऊपर कहा है कि—

> डूबा बंस कबीर का, उपजा पूत कमाल।
> हरि का सुमिरन छोड़ि के, घर ले आया माल॥

इनकी सहृदयता के विशेष उदाहरण आगे दिये जाएँगे।

कबीर साहब के स्वभाव का कोमल अंश रामानन्द जी को गुरु बनाने के बाद विशेष रूप से विकसित हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। शिष्य बनने से पहले वे भी हिन्दू-संस्कृति प्रधान किसी उपासना-रीति के पालन करने वाले रहे होंगे क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है कि करोड़ों जन्म के मार्ग को गुरु ने पल भर में पार करा दिया ; तथा—

> हम भी पाहन पूजते, होते बन के रोझ।
> सतगुरु की किरपा भई, सिरतें उतरा बोझ॥

गुरु के संपर्क से व्यापक राम का ज्ञान प्राप्त करके सम-भाव का उनमें विकसित होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त भावुकता की वृत्ति के समृद्ध होने के लिए जिस भौतिक आधार की आवश्यकता थी वह भी, व्यक्तिगत रूप में, इन्हें गुरु में ही मिला। अपने सन्तोष और स्वातन्त्र्य-भाव के कारण अपनी लौकिक यात्रा में इन्होंने कभी किसी से उपकृत होना पसन्द न किया होगा ; परन्तु गुरु का उपकार इनके ऊपर ऐसा हुआ जिससे बढ़कर कोई किसी के साथ कर नहीं सकता। गुरु ने उनको रा

ब्रह्म से मिलाया, जिससे वे जीवन मुक्त हो गए—

हम न मरैं मरि है संसारा।

फलतः सरल-साधु कबीर का हृदय गुरु के लिए भक्ति रूपी प्रेम से छलछलाया पड़ता है।

व्यापक ब्रह्म को मानने वाले कबीर निर्गुणोपासक थे। इनकी उपासना के दो पक्ष दिखाई देते हैं—ज्ञान और भक्ति। इनके ज्ञान पक्ष के अन्तर्गत एक ओर तो मिथ्या मतमतान्तरों का खण्डन और दूसरी ओर अद्वैत या तद्वत् अन्य सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा का सन्निवेश है। अद्वैत की प्रतिष्ठा मे स्थान-स्थान पर निर्विशेष ज्ञान का भी रूप दिखाई देता है।

खण्डन इन्होंने अपने समय में प्रचलित करीब करीब प्रत्येक ही हिन्दू या मुसलमान मत, पद्धति अथवा संप्रदाय का किया है। इन्होंने मुसलमानो के पीर, पैगम्बर, मुल्ला, मसजिद, काबा, ईद, नमाज़, आदि से लगा कर हिन्दुओं के प्रतिमा-पूजन, पुजारी, पंडित कर्मकांडी, षाड्दार्शनिक, शाक्त, चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि तक सभी का खंडन किया है, जैसा कि अब तक दिए गए कतिपय उदाहरणों से जाना जा सकता है। प्रतिमा-पूजन और अवतारवाद के तो ये अत्यन्त विरोधी थे। मूर्तिपूजा के विषय मे इन्होंने कहा है—

दुनिया कैसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजे, जिसका पीसा खाय।

सिद्धान्त की दृष्टि से, एक ओर तो 'सुन्न देस को बासी' जैसे वाक्य इन्हे शुद्ध अद्वैतवादी सिद्ध करते हैं और दूसरी ओर अपनी भिन्न-भिन्न उक्तियों मे कहीं कहीं ये वैष्णवो के समर्थक दिखाई देते हुए रामानुज के विशिष्टाद्वैत मार्ग में भी आस्था रखते मालूम होते

हैं, जैसे—'साकत ब्राह्मन मति मिलै, वैसनों मिलै चंडाल।' रामानुज के ब्रह्म में दया है और संसार के चिदचित् रूप उसी के उद्गार (या लीला रूप) हैं। कबीर को हम स्थान-स्थान पर ईश्वर को दयालु 'मेहरवान' कहते हुए पाते हैं; और फिर वे कहते हैं—

घट घट में रटना लगि रही परघट हुआ अलेख जी।
कहुँ चोर हुआ कहुँ साहु हुआ कहुँ बाह्मन है कहुँ सेख जी॥

हम यह भी देख सकते हैं कि अवतार-विरोधी कबीर का यह कथन वस्तुतः अवतार-कल्पना के कितना समीप पहुँच जाता है। यही नहीं, एकाध-स्थान पर उन्होंने अवतार में भो अपना विश्वास दिखाया है और ईश्वर को देवताओं का देव कहा है—

खभा में प्रकट्यो गिलारि, हिरनाकस मारयो नख बिदारि।
महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यघ प्रकट कियै भगति भेव॥

नीचे के पद में उनका ब्रह्म एक साथ ही सगुण और निर्गुण दोनों है, अथवा यह नेति नेति की प्रतिध्वनि है?—

तिरया, पुरुष, कछु कह्यो न जाई, सर्वरूप जग रहा समाई।
रूप, अरूप, जाइ नहिं बोली, हलुका, गरुआ जाय न तोली।
अरस-परस कछु रूप गुन, नहिं तहँ संख्या आहि।
कहै कबीर पुकारि के अद्भुत कहिये ताहि॥

एक ओर उपनिषदों की दुहाई देते हुए कबीर जी कहते हैं—'तत्त्वमसी इनके उपदेसा' और दूसरी ओर अद्वैत-रंग में वे कहते हैं—

ततपद त्वंपद और असीपद वाचुलक्ष्य पहिचाने।
जहदलच्छना अजहद कहते अजहद-जहद बखाने

सतगुरु मिलि सतसब्द लखावै, सारसब्द बिलगावै।
कहत कबीर सोई जन पूरा, जो न्यारा करि गावैं॥

न्याय दर्शन की तीन प्रकार की लक्षणा और वाचक तथा सांख्य के अव्याकृत, पंच महाभूत, पचीस तत्त्व, पुरुष, गुणत्रय आदि को भी उन्होंने निरर्थक बतलाया है, परन्तु योग को ये मानते थे। इन्होंने शायद स्वयं भी योग का कुछ अभ्यास किया था और योग के संयोग से साधना करने का संकेत किया है, यथा—

ज्ञान गेंद कर सुरति का दंड कर, खेल चौगान माहीं।
जगत का भरमना छोड दे बालके, आयजा भेख भगवन्त पाहीं॥
भेख भगवन्त की सेस महिमा करै, सेस के सीस पर चरन डारै।
कामदल जीति कै कँवलदल सोधि कै, ब्रह्म को बेधि कै क्रोध मारै॥
पदम आसन करै पवन परिचै करै, गगन के महल पर मदन जारै।
कहत कब्बीर कोई सन्त जन जौहरी, करम की रेख पर मेख मारै॥

लेकिन साथ ही इनका निर्गुण ब्रह्म योग के ईश्वर से भिन्न है। इन सब के अतिरिक्त इन्होंने मुसलमानी विश्वासों का भी बिना खंडन किए उल्लेख किया है। निम्न पद्य में मुस्लिम विश्वास से सम्बन्ध रखने वाले स्थानों के साथ साथ हिन्दू 'साकेत' को भी सम्मिलित कर दिया है—

तासु के बदन की कौन महिमा, कहौं भासती अति नूर छाई।
सुन्न के महल में बिमल बैठक, जहाँ सहज अस्थान है गैब केरा॥
छोड़ि नासूत मलकूत जबरूत हो और लाहूत हाहूत बाजी।
जाय जाहूत में खुदा खाविन्द जहँ, वहीं मक्कान साकेत साजी॥

भक्ति-मार्ग में विचरण करते हुए, कबीर जी परमात्म-पक्ष मे 'राम' को और भौतिक जगत से गुरु को ही सब कुछ मानते हैं।

'सतनाम' और 'सतगुरु', यही दो, इनकी भक्ति-रूपी उपासना के केन्द्र हैं। परन्तु इन के 'राम' दशरथ के पुत्र रामचन्द्र नहीं हैं। वे, 'ओंकार' शब्द के, जिसको इन्होंने 'रंकार' कहकर भी अभिहित किया है, प्रतीक हैं। ये 'राम' 'निर्गुण', 'निराकार' के भी ऊपर है—'निरगुन, निरंकार के पार परब्रह्म है, राम को नाम रंकार जानो।' यही 'राम' शब्द (या रंकार-ध्वनि) इनका 'सतनाम' है। 'सतनाम' के अतिरिक्त इन्होंने 'ओंकार' के लिए 'सबद' या 'शब्द' का भी प्रयोग किया है। 'सतगुरु' और 'सतनाम' का जब कभी भी कबीर दास जी उल्लेख करते हैं तो वे द्रवित हो जाते हैं, परम दीन बन जाते हैं और दोनों के दयागुण की महिमा गाने लगते हैं। परन्तु कहीं कहीं हम यह भी देखते हैं कि कबीर का साईं 'अकार' उकार, मकार, मातरा, इनके परे, बताया गया है। वह ओंकार से भी परे है।

कबीरदास जी अशिक्षित थे, परन्तु उन्होंने भ्रमण अच्छा किया था और सन्तों से मिलने का उन्हे शौक था। अतएव वे बहुश्रुत महात्मा थे। उनके सिद्धान्तो के पारस्परिक विरोधों को देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध मे उनका ज्ञान बद्धमूल होते हुए भी दूसरे महात्माओं से सुने हुए तत्सम भासमान अन्य सिद्धान्तो का भी प्रभाव इन पर पड़ा और उन सब का अपने अद्वैत के साथ सन्तुलन करने में ये असमर्थ रहे। उनके सम्बन्ध में संभवतः इन्हे कुछ भ्रान्ति रही। इसके अतिरिक्त गुरु बनाने से पहले और कुछ समय-बाद तक की सगुणोपासना (क्योंकि रामानन्द जी सगुणोपासक वैष्णव थे) का भी संस्कार इनके भीतर स्वभाव का दुर्लंघ्य अंग बन कर

गया होगा। अन्यथा भक्ति तथा निर्गुण का ज्ञान, यदि एक दम ही विरोधी नहीं, तो एक दूसरे से बहुत ज्यादा भिन्न अवश्य है। भक्ति किसी न किसी रूप मे सगुण के आधार को अवश्य ढूँढती है और वह हृदय की भावुकता से सम्बन्ध रखती है। निर्गुण केवल ज्ञान का ही विषय है और शुष्क वस्तु है। सूफ़ियों की माधुर्यपूर्ण उपासना-पद्धति का भी कबीर साहब पर प्रभाव पड़ा था। वे अपने निर्गुण-ज्ञान मे उसका बहिष्कार न कर सके और न अधिक उसे ग्रहण ही कर सके। इनके रचना-समूह मे शुष्क ज्ञान के पदो का ही बाहुल्य है।

शायद यह कहा जाय कि भिन्न-भिन्न मतो का प्रभाव इनकी क्रमिक विचारधारा का सूचक है तथा उनके पूर्ण निर्गुणज्ञानोपासक होने से पहले के पद उनके ऊपर पडने वाले भिन्न-भिन्न प्रभावों को प्रकट करते हैं। परन्तु ऐसी सूरत मे हमे यह मानना पड़ेगा कि अपने विकास-काल मे इन्होंने बहुत ही कम रचना की, जब कि दूसरी ओर हम यह भी जानते हैं कि गुरु बनाने के बहुत समय पहले से ही ये पद बनाकर लोगो को उपदेश भी देने लगे थे।

कबीर साहब के सिद्धान्तो मे उपर्युक्त विरोधो के समाधान के लिए कदाचित् यह भी कहा जाय कि कबीर जी हिन्दू-मुसलमानों को अथवा अन्य भिन्न-भिन्न संप्रदायों को आपस में मिलाने के लिए व्यापक रूप से ग्राह्य ईश्वर की मूर्ति उपस्थित करना चाहते थे। उनका ऐसा उद्देश्य रहा होगा, या था, इसको मानने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु इसके लिए यदि वे एक ईश्वर को उपस्थित करते तब तो ठीक था; लेकिन ईश्वरों को उपस्थित करना समझ

में नहीं आता। इसके अतिरिक्त ठकुर-सुहाती कहकर संप्रदायों को मिलाने के यत्न की कोई भी संभावना हम खरी खरी कहने वाले कबीर साहब में नहीं देखते। अन्यथा उनके चरित्र में एक दूसरे के विरोधी दो तत्त्वों को एक साथ रखकर हम उनके चरित्र को बहुत नीचा गिरा देंगे।

अद्वैत-ज्ञान के सिलसिले मे कबीर साहब ने माया के सम्बन्ध में भी कहा है। इस माया ने सब को वशीभूत कर रक्खा है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक इसके प्रभाव से नहीं बच सके। यह देखने में मीठी लगती है और सबको भ्रम में फँसा कर हरि तक नहीं पहुँचने देती। जितने भी कर्म आदिक हैं—आवागमन और दशावतार तक—सब माया ही हैं। यह माया बड़ी ठगिनी है। कामिनी और कांचन इसके दो साधन हैं—

(क) माया दीपक नर-पतँग, भ्रमि भ्रमि माहि परंत।

(ख) संतौ आवे-जाय सो माया।

(ग) दस अवतार ईस्वरी माया करता कै जिन पूजा।

(घ) माया महा ठगिनी हम जानी।

निरगुन फाँस लिए कर डोलै बोलै, मधुरी बानी।
केसव के कमला ह्वै बैठी, सिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ में भई पानी।
जोगी के जोगिन ह्वै बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू के कौड़ी कानी।
भक्तन के भक्तिन ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।

(ङ) एक कनक एक कामनी, दुर्गम घाटी दोय।

यह माया ज्ञान और भक्ति ('नाम' की प्रीति) से दूर की जाती है—

आँधी आई ज्ञान की, ढही भरम की भीत।
माया टाटी उड़ गई, लगी नाम से प्रीति।

इस प्रकार भक्ति की बड़ी महिमा है। भक्ति से ही मुक्ति मिलती है—'भगति मुकति गति पाई रे।'—यद्यपि अन्यत्र यह भी कहा है कि 'ज्ञान बिना नहिं मुक्ति है।' परन्तु भक्ति निष्काम होनी चाहिए—उसमें वैकुंठ या बहिश्त तक की कामना न हो—'भिस्त न मेरे चाहिये बाझ पियारे तुज्झ' तथा 'जब लग है बैकुंठ कि आसा। तब लग नहीं हरि चरन निवासा।' साईं के लिए प्रेम ही इस भक्ति का स्वरूप है और प्रेम का रूप है विरह। प्रेम और विरह तथा तत्संबंधी वेदना के ऊपर कबीर जी ने बड़ी अच्छी उक्तियाँ कही हैं जिनमे वास्तविक और भावपूर्ण कविता दृष्टिगोचर होती है। यथा—

प्रेम न बाडी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देय लै जाय॥
प्रेम प्रेम सब कोई कहै, प्रेम न चीन्है कोय।
आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावे सोय॥
बिरहा बिरहा मत कहो, बिरहा है सुलतान।
जा घट बिरह न संचरै, सो घट जान मसान।
कबीरा बैद बुलाइया, पकरि के देखी बाँहि।
बैद न बेदन जानई, करक करेजे माँहि॥
जाहु बैद घर आपने, तेरा किया न होय।
जिन या बेदन निरमई, भला करेगा सोय॥

कबीरा हँसना दूर कर, रोने से कर प्रीत।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मीत॥

कबीर का उद्देश्य साधना, ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा अपनी मुक्ति प्राप्त करने के अतिरिक्त जनता को भी सही मार्ग दिखाना था। वे निश्चित रूप से सुधारक, उपदेशक तथा धर्म-प्रचारक थे। काव्य उनका लक्ष्य न था। अतः उनके बनाए हुए पदो में बहुत अधिक शुष्कता या रूखापन हम पाते हैं। इसलिए उनकी रचना मे हमे पद्य अथवा शुद्ध भाषा के ऊपरी गुण तक भी नहीं मिलते—छन्दो की गति अशुद्ध है, मात्राओं का कोई विचार नहीं है, दृष्टान्तो आदि में प्राय प्रकृत और अप्रकृत के भाव-सामंजस्य की चेष्टा नहीं की गई है, उनमे प्रायः भावों का अनौचित्य देखा जाता है—ग्लानिव्यंजक, अश्लील अथवा ग्राम्य भावो तथा शब्दो का प्रयोग कर दिया गया है। भाषा भी इनकी बडी विषम है, जिसमें जगह जगह की बोलियो और शब्दो का सम्मेल है और बेमेल शब्दों का प्रायः एकत्र संस्थान कर दिया गया है। शब्दो को स्वेच्छानुसार इन्होंने तोडा-मरोड़ा भी है। इनकी बहुत सी त्रुटियों के उदाहरण पीछे दिए गए उद्धरणो में ही मिल जाएँगे। अश्लीलता आदि का उदाहरण हम यहाँ देना नहीं चाहते। व्याकरण की त्रुटि पिछले किसी उदाहरण मे आए हुए 'गया न जाय' मे देखी जा सकती है।

परन्तु भाषा का परिच्छद कुछ असमर्थ होने पर भी यदि कहीं भावो की सुसंपन्नता और शक्ति हमें दिखाई देगी तो हम वहाँ काव्यत्व मानेंगे। कबीर जहाँ भावुक हो गए हैं वहाँ कहीं कहीं तो बहुत ही ऊँची कविता है। 'साईं' के प्रति भावना की

निष्कपट सरलता लेकर जहाँ कहीं ये बोले हैं, जहाँ प्रेममग्न हो विरह की पीर से इन्होंने कुछ कहा है, वहाँ ये हमारे बहुत से बड़े-बड़े कवियों से टक्कर ले जाते हैं। ऐसे स्थलों पर इनकी भाषा में भी कुछ माधुर्य-विशेष आ जाता है। दो एक उदाहरणों से ही अन्दाजा हो जायगा—

(क) सुनहु हमारी दादि गुसाईं, अब जिन करहु अधीर।
तुम धीरज मैं आतुर स्वामी, काचे भाडें नीर॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधै धीर।
देह छताँ तुम मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर॥

(ख) तुम्ह बिनु राम कवन सो कहिये,
लागी चोट बहुत दुख सहिये।
बेध्यो जीव बिरह के भाले, राति दिवस मेरे उर साले॥
को जानै मेरे तन की पीरा, सतगुरु सबद बहि गयौ सरीरा।
तुमसे वैद न हम से रोगी, उपजी बिथा कैसे जीवै वियोगी।
निस बासुरि मोहि चितवत जाई, अजहुँ न आई मिले रामराई॥

(ग) बिरहबान जिहि लागिया, औषध लगत न ताहि।
सुसुकि-सुसुकि मरि मरि जियैं, उठैं कराहि कराहि॥

(घ) सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता, मति सपना ह्वै जाय॥

(ङ) यह तन जारौं मसि करौं, लिखौं राम को नाउँ।
लेखनि करौं करंक की, लिखि-लिखि राम पठाउँ॥

परन्तु इस तरह की कविता थोड़ी ही है, क्योंकि अधिकतर तो कबीर ने खंडन-मंडन के लिए ही कहा है। उनकी वाणी के बाहुल्य को देखते हुए इतने थोड़े काव्यांश के आधार पर ही कबीर

को सर्वथा कवि के रूप में ग्रहण करना अनुचित होगा।

फिर, कबीर रहस्यवादी कवि भी कहे जाते हैं। रहस्यवाद का प्रश्न इतना व्यापक है कि इसकी मनोवृत्ति से कौन बचा है, यह बताना कठिन है। हम सभी लोग—केवल अपने दाल-भात से संबंध रखने वाले भी—रहस्यवादी हैं। जिस समय भी मनुष्य अपने, और अपनी परंपरा में दूसरो के, ऐहिक कर्मों में पारमार्थिक अभिप्राय को ढूँढने या देखने लगता है वहीं वह रहस्यवादी हो जाता है। संसार की विशेषताएँ और भाग्यवाद सामान्य जीवन मे रहस्यवाद की भावनाओं के प्रेरक होते हैं। मात्रा का अन्तर हम से नामकरण करवाता है। सांसारिकों मे इस प्रेरणा की मात्रा इतनी क्षणस्थायी होती है कि हम लौकिक-व्यवहार-लीन व्यक्तियों को रहस्यवादी नहीं कहते। क्षणिकता की अवस्था से उठकर जब यही प्रेरणा स्थायी बनने लगती है तो वह स्वभाव का अंग बन जाती है और उसमें विवशता तथा भाग्यवादिता का अंश घट कर लोक-मिथ्यात्व, असारता, ग्लानि, असंतोष आदि वृत्तियो का उत्तरदायित्व पैदा हो जाता है। इससे भी बढ़कर आगे की स्थिति मे तल्लीनता, हर्ष, उल्लास आदि व्यक्ति का स्वभाव बन जाते हैं। इस दृष्टि से लौकिक-व्यवहारों से उठ कर जब परमार्थ-चिन्तन बढ़ेगा, तो, निश्चय ही, मनुष्य रहस्यवादी होने लगेगा। अतः सच्चे साधु-सन्त, सभी, किसी न किसी परिभाषा में रहस्यवादी होते हैं। कबीर भी अवश्य रहस्यवादी हैं और पूर्ण रहस्यवादी। परन्तु दूसरी कोटि के, क्योंकि उनकी वाणी में स्थान-स्थान पर फटकार, आलोचना, खंडन, गर्व आदि का उग्र रूप दिखाई देता है, वह अवश्य ही उनके अभ्यन्तर से,

ग्लानि, असंतोष और क्षोभ की किसी अर्द्धव्यक्त या छिपी हुई परत का द्योतक है। इसीलिए वे लौकिक व्यवहारों का रहस्य-पक्ष से सामंजस्य स्थापित करने मे असफल से रहे हैं। इस बात को देखते हुए जायसी उनसे बहुत ऊँचे रहस्यवादी हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से, यद्यपि वे अपने को कहीं-कहीं जीवन्मुक्त समझते हुए दृष्टिगोचर होते हैं ('हम न मरैं') तथापि उनकी स्थिति जिज्ञासु और मुमुक्षु के बीच की मालूम होती है। हम देख चुके हैं, कि निर्गुण (या उससे भी परेवाले) रंकार राम के बारे मे उनके विचार सुपुष्ट और दृढ होते हुए भी, वे प्रायः दूसरे प्रभावो से अपने को निर्लिप्त नही रख सके हैं—निर्गुण मे भी दयागुण की भावना रखते हैं—कभी कभी अति कातर भी होते हैं और अवतार विरोधी होने पर भी नृसिंहावतार का लौकिक रीति से वर्णन करते है। अभी-अभी हमने यह भी कहा है कि कबीर जैसे मुँह-फट, स्पष्टवादी महात्मा लोकरंजन, या आत्मरंजन ही के लिए उपाधियों आदि से काम नहीं लेंगे। उनकी अत्यन्त दृढ़ विचार-धारा में भ्रान्ति, या भ्रान्ति नही तो दुर्बलता, का यह अस्तित्व तथा उनका चिडचिड़ापन जीवन्मुक्त अथवा मुमुक्षु के लक्षण नही कहे जा सकते। वे अभी जिज्ञासु ही हैं—कदाचित् ऊँचे जिज्ञासु—और द्वितीय कोटि के रहस्यवादी विचारक।

परन्तु रहस्यवादी 'कवि ?' उनको रहस्यवादी कवि मानने में सबसे पहली अड़चन यही है कि वे मुख्यतः कवि नहीं है। दूसरी अडचन भ्रान्ति की है। विचारक के लिए जो भ्रान्ति एक सरणि से दूसरी सरणि पर पहुँचने का साधन होती है वही कवि के लिए उसको पथभ्रष्ट करने तथा असफल बनाने का प्रधान

कारण हो जाती। कबीर को यदि हम कवि कहेंगे तो बहुत ही भटका हुआ और अपने कर्म को न समझने वाला कवि। काव्य के रहस्यवाद में जिस लावण्य, भीनी व्यंजकता और आकांक्षा (कौतुक) का सम्मिश्रण होना चाहिए वह कबीर की वस्तुतया रहस्यवादी उक्तियों मे कहाँ है? जिन उक्तियों में काव्यत्व है वे व्यक्तिगत हैं, उनमे अपनी व्यक्तिगत वेदना को लेकर रोना-धोना शिकायत-शिकवे निहोरे तो हैं, परन्तु विपुल भासमान सृष्टि के साथ अपनी सहानुभूति या उस परम-ज्योति की परिलक्षणा कोई नहीं है। इन कविताओं में कबीर जी जैसे प्रायः सृष्टि के बाहर की चीज हो—उनका नाता है तो केवल अपने राम से और उनके राम का नाता है तो केवल उनसे। कबीर का रहस्यवाद तो बड़े अपरिणत, असिद्ध ढँग का है—कहा जाता है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कबीर के आभारी हैं। यह बात हमारे कथन को पुष्ट करने वाली है। जो सुकुमारता हमें ठाकुर मे मिलती है, उसका कौनसा अंश हम कबीर मे पाते हैं?

यद्यपि कबीर कवि नहीं थे, तथापि उपदेशक की हैसियत से प्रभाव और चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उन्होने काव्य के स्थूल उपकरणों का कहीं-कहीं प्रयोग किया है। इन उपकरणों में हम कुछ अलंकारो की गणना कर सकते हैं, जैसे विरोधाभास, अन्योक्ति अथवा फिर ध्वनिक्रीडा या शब्द-क्रीड़ा। वैसे और भी अलंकार आए हैं, परन्तु विरोधाभास से तो इन्हें बहुत ही प्रेम मालूम होता है। विरोधाभास की रुचि-प्रधानता के कुछ उदाहरण ये हैं—

(क) सिर राखे सिर जात है, सिर काटे सिर होय।

(ख) डगमगाय तो गिरि परै, निचल उतरै पार ।

(ग) बाँझ के पूत, बाप बिन जाया ।

अन्योक्ति के उदाहरण—

(क) पतिबरता को सुख घना, जाके पति है एक।
मन मैली बिभिचारिनी, ताके खसम अनेक ॥

(ख) पानी मिलै न आपको, औरन बकसत छीर ।

(ग) काहे री नलिनी, तू कुम्हिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पानी ।
जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास ॥

रहस्यवादी प्रायः अन्योक्तियों का अधिक प्रयोग किया करते हैं। ध्वनि-साम्य का उदाहरण, जैसे, "बैद न वेदन, जानई" में, अथवा यमक और अनुप्रास का आना केवल प्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। इसी तरह 'जहँ आपा तहँ आपदा' अथवा 'प्रभुता को सब कोई भजै प्रभु को भजै न कोइ' की शब्द-क्रीड़ा भी प्रसंगतः नहीं आ गई है। चमत्कार पैदा करने के लिए ही इन्होंने सांकेतिक पद भी कहे हैं और उलटबाँसियाँ भी, जो पहेली का-सा रूप धारण कर लेती हैं। इनका अर्थ उलटा निकाला जाता है और उसका निकालना, योग, सांख्य वेदान्त आदि के सिद्धान्तों को अच्छी तरह जाने बिना असंभवप्राय होता है। यथा—

माटि क कोट, पखान को ताला, सोई के बन सोई रखवाला।
भूकि भूकि कूकुर मरि गयऊ। काज न एक सियार से भयऊ ॥

मूस बिलारी एक सँग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज यह देखा हो संतो, हस्ती सिंहहि खाय ॥

अथवा संकेत पद—'बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता'

इस प्रकार के कथनों में चमत्कार अवश्य रहता है—कम

से कम ये कुतूहलवर्धक तो होते ही हैं, परन्तु उनमें काव्यत्व कुछ नहीं है। उनसे एक प्रकार का दर्द-सर होने लगता है। पर, कबीर को यदि हम प्रधानतः कवि नहीं कह सकते, तो हम को यह मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने हमें बहुत बड़ा और ठोस साहित्य दिया है—विचारक, सुधारक और प्रेरक महात्मा के रूप में। और इसलिए साहित्य में हम को भी उन्हें बहुत बड़ा स्थान देना होगा। इनकी वाणी की प्रेरणा-शक्ति इसी बात से प्रकट है कि तुलसी और सूर के साथ, देश के साहित्यकार महात्माओं में इनका नाम भी वैसे ही व्यापक रूप से लिया जाता है और इनके पद भी उसी तरह जगह-जगह गाए जाते हैं। इनका चलाया हुआ कबीर-पंथ इस देश के पन्थों में से एक है।

कबीर जी ने अध्यात्म-विषयक उपदेशों के अतिरिक्त मनुष्य की साधारण जीवनचर्या के आचरण से सम्बन्ध रखने वाले भी बहुत से नैतिक उपदेश दिए हैं। साहित्यिक दृष्टि से, भक्ति और प्रेम के पदों के बाद वे इनकी रचना के अति श्रेष्ठ अंग हैं। उपयोगिता की दृष्टि से तो वे मूल्यवान् हैं ही। कबीर-साहित्य के परिचय के लिए उनको देखना भी आवश्यक है। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

या दुनिया में आय के, छाँड़ि देय तू ऐंठ।
लेना होइ सो लेय ले, उठी जात है पैंठ॥

केला तबहिं न चेतिया, जब ढिग जामी बेरि।
अबके चेते क्या भया, काँटों लीन्हा घेरि॥

कबिरा आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय॥

रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय॥
कथनी मीठी खाँड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तज करनी करै, तौ विष से अमृत होय॥
दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटि हाय।
विना जीव की स्वाँस से, लोह भस्म हो जाय॥
रूखा-सूखा खाइ कै, ठंडा पानी पीव।
देखि बिरानी चूपड़ी, मत ललचावै जीव॥
ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहु सीतल होय॥

इस तरह के उदाहरणों को देखकर कबीर जी के सात्विक मनो-भावों और उनके सासारिक अनुभव का काफी प्रमाण मिलता है। यह कहा ही जा चुका है कि उनका भ्रमण अच्छा था।

महात्मा सूरदास

श्री वल्लभाचार्य जी बड़े पहुँचे हुए महात्मा हो गए हैं। इन्होंने प्रेम-प्रधान सगुण कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। सूरदास जी इन्हीं के मुख्य शिष्यों में से एक थे। उन्होंने कहा है—

श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला-भेद बतायो।

वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने अपने पिता के चार प्रमुख शिष्यों तथा चार अपने प्रमुख शिष्यों को लेकर एक कवि-वर्ग स्थापित किया जिसे उन्होंने 'अष्टछाप' नाम दिया। 'अष्टछाप' के महानुभाव वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित कृष्णभक्ति के आठ अति श्रेष्ठ कवीश्वर हो गए हैं। इनमें भी सूरदास जी का स्थान सबसे ऊँचा है। विट्ठलनाथ जी के द्वारा 'अष्टछाप'-में अपने सम्मिलित किए जाने का उल्लेख सूरदास जी ने इस तरह किया है—थपि गोसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप।

'शिवसिंह सरोज'-कार ने सूरदास जी का जन्म संवत् १६४० लिखा है। यह सम्भव नहीं मालूम होता, क्योंकि वल्लभाचार्य जी की जन्म-मरण-तिथियाँ भारतेन्दु ने १५३५ सं० और १५८७ सं० बताई हैं तथा विट्ठलनाथ जी की १५७२ और १६४२। अतः मिश्रबन्धुओं ने 'सूरसारावली' तथा 'साहित्य-लहरी' की तिथियों के आधार पर सूर का जन्म-सं० १५४० माना है। 'सूरसारावली' एक प्रकार से सूरसागर की सूची-जैसी है और 'साहित्य-लहरी' 'सूरसागर' के ही कुछ पदों तथा दृष्टिकूटों का संग्रह है। सूरदास जी के कथन के अनुसार 'साहित्य-लहरी' का रचना संवत् १६०७ है और 'सूरसारावली' उन्होंने ६७ वर्ष की आयु में लिखी।

इस प्रकार यदि यह भी मान लिया जाय कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही साल मे लिखे गए थे तो सूरदास जी का जन्म संवत् १५४० ही ठहरता है। सूरदास जी की मृत्यु १६२० सं० मे हुई, क्योंकि उस समय विट्ठलनाथ जी ४८ वर्ष के थे।

सूरदास जी की जाति के बारे में दो मत हैं। सरदार-कृत 'सूर के दृष्टिकूट' के अनुसार वे भाट थे, क्योंकि उन्हे पृथ्वीराज के भाट-कवि चन्द बरदाई का वंशज बताया गया है। परन्तु गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोकुलनाथ जी ने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' लिखी है, जिसमे उन्होंने सूरदास जी को ब्राह्मण कहा है। सूरदास जी की मृत्यु के समय विट्ठलनाथ जी की आयु ४८ वर्ष की होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि गोकुलनाथ जी का जन्म उस समय से काफी पहले हो गया होगा। यह देखते हुए गोकुलनाथ जी का कथन ही अधिक विश्वसनीय होना चाहिए। इसके अतिरिक्त नाभादास जी के 'भक्तमाल' तथा मियाँसिंह के 'भक्तविनोद' से भी इनके ब्राह्मण होने की पुष्टि होती है।

इन के माता पिता निर्धन थे। पिता का नाम रामदास था। आठ वर्ष की आयु में पिता के साथ मथुरा जाकर फिर ये न लौटे। पिता को यह समझा कर कि कृष्ण के आश्रय मे वे अब अकेले ही मथुरा मे रहेगे सूरदास जी ने उन्हे खाली वापस लौटा दिया।

सूरदास जी अंधे थे। कोई कहते हैं वे जन्मांध थे, परन्तु एक किंवदंती के अनुसार इन्होंने अपनी युवावस्था मे किसी सुन्दरी को देख कर अपनी आँखें फोड़ ली थीं। यह भी कहा

जाता है कि अपनी अन्धावस्था में एक बार कुएँ मे गिर गए थे और छै रोज तक वहीं पड़े रहे सातवें दिन इन्हें किसी ने निकाला तो ये समझे कि स्वयं भगवान् कृष्ण ने ही उनकी रक्षा की है, और इन्होने उसका हाथ पकड़ लिया। हाथ छुड़ा कर उसके भाग जाने पर इन्होने विह्वल हो कर कहा—

बाँह छुड़ाए जात हौ, निर्बल जानि कै मोहि।
हिरदै सौं जब जाइहौ, सबल बखानौं तोहिं॥

यद्यपि सूरदासजी के रचे हुए पाँच ग्रन्थ बताये जाते हैं, तथापि इनकी जो कीर्ति है वह 'सूरसागर' के एक विशेष भाग के ही कारण। सब ग्रन्थ इनके उपलब्ध भी नहीं हैं। 'सूरसागर', कहा जाता है, सूरदास जी के सवा लाख पदों का संग्रह है। परन्तु इस समय पूरे 'सूरसागर' का चतुर्थांश भी उपलब्ध नहीं है।

सूरसागर के पदों का आधार श्रीमद्भागवत का विषय है। सूरसागर के दशम स्कंध मे भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। सूरदास जी कृष्ण के अनन्य भक्त थे और, इस प्रकार सगुणोपासना के पक्षपाती थे। निर्गुण को इन्होंने शायद अस्वीकार तो नहीं किया है परन्तु निर्गुणोपासना को अवश्य बेकार, और एक प्रकार से अर्थहीन, बतलाया है। गोपी-उद्धव-संवाद में गोपियो के तर्क और उपालंभ आदि द्वारा इस लक्ष्य की पूर्णसिद्धि सूरदास ने की है, यहाँ तक कि अन्त मे निर्गुण ज्ञान के अहंकारी उद्धव तक को सगुण प्रेमभक्ति का उपासक बना दिया है। सिद्धान्तरूप मे स्वयं अपने बारे मे उन्होंने यह कहा है—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस, अंतरगत ही भावै।

मन-बानी को अगम अगोचर, सो जाने जो पावै ॥
रूप-रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु निरालंब मन धावै ।
सब विधि अगम विचारहिं, तातें सूर सगुन पद गावै ॥

कृष्ण इनके जगदीश हैं, त्रिभुवनपति हैं, ब्रह्म हैं, तुलसीदास जी की तरह इन्होंने भी अपने पदों में अनेक स्थानों पर लीला-वर्णन करते हुए अपने प्रभु की ईश्वरता की याद दिलाई है; जैसे—

कोटि ब्रह्मांड करत छिन भीतर
हरत विलंब न लावै ।
ताको लिए नंद की रानी,
नाना रूप खिलावै ।

अपनी कृष्णभक्ति की एकतानता में सूरदास और किसी देवता की परवाह नहीं करते । मूलरूप मे कृष्ण और राम के अभेद के कारण राम का इन्होंने कतिपय पदों में अवश्य चरित्र-वर्णन किया है। परन्तु जिस तरह तुलसीदास ने कहीं-कहीं कृष्ण की कीर्ति को गा कर भी राम को ही अपनाया उसी तरह सूर भी ब्रजवासी—केवल ब्रजवासी—कृष्ण ही के रूप पर मोहित हुए। अन्यथा तुलसीदास की भाँति दूसरे देवताओं की स्तुति करना तो दूर रहा, इन्होंने उनका नाम तक नहीं लिया; बल्कि एकाध स्थान पर तो यहाँ तक कह डाला—

और देव सब रंक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे ।

सूर और तुलसी में इस विभिन्नता का कारण दोनो के दृष्टि-कोणों तथा उद्देश्यों का भेद हो सकता है। कहा जाता है कि तुलसी की भक्ति सेवक-भाव की थी और सूरदास की सखा-भाव की। यह स्वयं एक कारण कहा जा सकता है, क्योंकि सखा को

सखा से मिलने के लिए किसी मध्यस्थ की ज़रूरत नहीं होती। परन्तु सबसे बड़ा कारण तो शायद यह है कि सूरदास की भक्ति आशिकमिजाजी के ढंग की थी, जिसमें प्रेमी को प्रेम के अतिरिक्त संसार में और कुछ दीखता ही नहीं—सारा संसार जैसे उनके लिए है ही नहीं। सूर के कृष्ण विश्वंभर और जगदीश आदि होते हुए भी विश्व की कम परवाह करते हैं। उधर तुलसी ने जिसे अपना उपास्य बनाया है वह यदि विश्व का संरक्षण, नियमन न करे तो उसका इस पृथ्वी पर आना ही व्यर्थ हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के कृष्ण तो खिलाड़ी और मनोहर बालक हैं, जिनका माधुर्य ही उनके जन्म लेने का एक मात्र उद्देश्य है, परन्तु तुलसी के राम सचमुच विश्व के राजा हैं, जिनके यहाँ राजमर्यादा के अनुसार राज-दरबार भी सजता ही होगा। यही कारण है कि सूर ने माधुर्य की बहती गंगा का सुधा-पान करने के लिये देवताओं को साक्षी बनाने की ज़रूरत नहीं समझी, परन्तु तुलसीदास के लिए दरबारियों को प्रसन्न रखना भी आवश्यक हो जाता है।

परन्तु, जैसा अभी कहा गया है, सूरदास को इस बात का भी बार-बार ध्यान आता है कि उनके कृष्ण परब्रह्म हैं। जब जब इस तरह की भावना का अतिरेक हो जाता है तब-तब वे उनके सामने बड़े विनयावनत और दीन भी हो जाते हैं। उनके विनय के कोई कोई पद बड़े भावुकता-पूर्ण हैं। उनमें कभी वे उलाहना देते हैं, कभी अपने को पतितों का सरताज कहते हैं और कभी कृपा-दान पाकर कृतकृत्यता प्रकट करते हैं, यथा—

(क) कोटि जनम भ्रमि भ्रमि हम हारयो, हरिपद चित न लगायो।
और पतित तुम बहुत उधारे, सूर कहा बिसरायो॥

(ख) सूर पतित तुम पतित-उधारन, गहौ बिरद की लाज ॥

(ग) मो सम कौन कुटिल खल कामी ।
जिन तन दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नमक-हरामी ॥
भरि-भरि उदर विषयन को धायो, जैसे सूकर ग्रामी ॥
हरिजन छाँड़ि हरि-बिमुखन की निसिदिन करत गुलामी ॥
पापी कौन बड़ो है मो तै, सब पतितन में नामी ।
सूर पतित को ठौर कहाँ है, सुनिए श्रीपति स्वामी ।

(घ) अबकी राखि लेहु भगवान ।
हम अनाथ बैठे द्रुम-डरिया पारधि साँधे बान ॥
याके डर भाज्यो चाहत हौं ऊपर ढुक्यो सचान ।
दुश्रो भाँति दुख भयो आनि यह कौन उबारे प्रान ॥
सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी सर छूटे संधान ।
सूरदास सर लग्यो सचानहिं जै जै कृपानिधान ॥

सखा-भाव की अन्यतम स्थिति में दैन्य या विनय का इस प्रकार होना हमें विरोधी नहीं मालूम होता । प्रेमी भी अपने प्रेम-पात्र की निष्ठुरता से, अथवा किसी समय अपनी ही अयोग्यताओं की कल्पना करके, कातरतावश प्रेमपात्र के सामने इसी तरह दीन हो जा सकता है । वास्तव मे, हृदय के समस्त अगणित भावों में इतनी संश्लिष्टता, इतनी एक-सूत्रता है कि कब कौन भाव किसका सहचारी या संचारी बन जाता है, इसका जानना सर्वथा कठिन है । केवल मुख्य भाव को ही हम उसकी प्रधानता के कारण मुख्य रूप से देख सकते हैं । दृष्टिकोणों के भेद को देखने से ही वह देखा जाता है । यदि हम तुलसी में सेव्य-सेवक भाव देखते हैं, तो इसीलिए, कि तुलसी की दृष्टि हमेशा राम के गौरव और प्रताप

की ओर लगी रहती है। इससे भिन्न, सूर कृष्ण के रूप-माधुर्य और उनकी दिल-फरेब अदाओं पर ही लट्टू हैं। परन्तु दैन्य या विनय का संचरण सखा-संबंध या सेव्य-संबंध, दोनों ही में, स्थिति स्थिति के अनुसार, होता रहना संभव है। सूरदास की भक्ति में प्रेम और विरह की मात्रा अधिक है। विरहातुर प्रेमी (भक्त) की भाँति वे अपने प्रेमपात्र (उपास्य) की प्रत्येक छवि के प्रत्येक आवर्तन को, उसकी जरा जरा सी चेष्टा को, ज़रा ज़रा से मनोभावों को, बड़ी उत्सुकता से आँखें लगा कर, देखते हैं। इसी लिए सूर-सागर वास्तव मे भावों और चित्रों का सागर है। थोड़े से काव्योदाहरण आगे चल कर दिए जाएँगे। उनसे इसका कुछ अनुमान हो सकेगा। यहाँ उनकी प्रेम-संबंधी तथा भक्ति संबंधी-कुछ उक्तियाँ देखने लायक हैं—

(क) सब रस को रस प्रेम है, विषयी खेलैं सार।
तन, मन, धन, यौवन खिसे, तऊ न मानै हार॥

(ख) प्रीति परेवा की गनो, चाहत चढ़न अकास।
तहँ चढ़ि तीय जु देखिए, परत छाँड़ उर स्वाँस॥

(ग) जो पै जिय लज्जा नहीं, कहा कहौं सौ बार।
एकहु अंक न हरि भजे, रे सठ 'सूर' गँवार॥

(घ) प्रेम प्रेम तें होय, प्रेम तें पर है जीये।
प्रेम बँधो संसार, प्रेम परमारथ लहिये॥

(ङ) एकै निश्चय प्रेम को, जीवन मुक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को, जिहि रे मिलैं गोपाल॥

अपनी भक्ति को इस भाँति प्रेम का रूप देकर सूरदास हिन्दी-साहित्य में भावुक-शिरोमणि बन कर अवतरित होते हैं। दूसरे

प्रवेश-सामर्थ्य। यह सामर्थ्य दृग्गोचर होती है दो रूपों में—वस्तु-चित्रण और स्वभाव-चित्रण (अथवा मनोविज्ञान)। वस्तु-चित्रण के भी दो पक्ष हो जाते हैं। (१) जहाँ किसी दृश्य का केवल नक्शा ही खड़ा किया गया हो, और (२) जहाँ नक्शे के साथ ही साथ उससे संबद्ध भाव-व्यंजना भी की गई हो। सूरदास के वस्तु-चित्रण मे दूसरी बात की प्रधानता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से बाल-स्वभाव को जितना इन्होंने पहचाना और याथातथ्य के साथ वर्णित किया है उतना शायद वे लोग भी नहीं कर सकते जो रात-दिन बालकों की क्रीडाएँ देखते हैं। वास्तव में आश्चर्य होता है कि सूरदास, जन्मांध होते हुए भी, या यदि जन्मांध नहीं थे तो बचपन से ही घर से बाहर साधुओं की संगति मे रहते हुए, कहाँ से बालस्वभाव का इतना व्यापक अध्ययन कर सके। सचमुच यदि उन्होंने बाल-चरित्र का विषय लेकर कोई प्रबन्ध-काव्य लिखा होता तो वह संसार भर के आज तक के गद्य और पद्य साहित्य मे अद्वितीय होता। यह अनुमान एकदम भ्रान्त न होगा कि कृष्ण के बालरूप की एकनिष्ठ भक्ति ने उन्हे भगवान् के उस रूप को देखने के लिए एक दिव्य दृष्टि दे दी थी।

कृष्ण अभी बिलकुल छोटे ही हैं। यशोदा लोरी गा-गा कर उन्हें सुलाने की चेष्टा कर रही है। नीचे दिये गये पद्य में वह दृश्य सामने आ जाता है—

> यशोदा हरि पालने झुलावै।
> हलरावै दुलरावै मल्हावै जोइ सोई कछु गावै।

मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न, आनि सुवावैं।
तू काहे न वेगी सो आवै तोकों कान्ह बुलावै ॥
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं कबहुँ अधर फरकावैं।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रही, कर कर सेन बतावै।
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि यशुमति मधुरे गावैं।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नन्दभामिनि पावैं ॥

जब कृष्ण कुछ बड़े हो गए तो—

गहे अँगुरिया तात को नन्द चलन सिखावत।
अरवराइ गिरि परत हैं कर टेकि उठावत ॥
बार बार बकि स्याम सौं बछु बोल बकावत।
दुहुँधा दोउ दंतुली भई अति मुख छबि पावत ॥
कबहुँ कान्ह कर छाँडि नंद पग द्वै करि धावत।
कबहुँ धरणि पै बैठि के मन महँ कछु गावत ॥
कबहुँ उलटि चलैं धाम को घुटरुन करि धावत।
सूर स्याम मुख देखि महर मन हर्ष बढ़ावत ॥

मक्खन कृष्ण को विशेषतः प्रिय था। सो—

जेंवत स्याम नंद की कनियाँ।
कछु खावत कछु धरनि गिरावत, छबि निरखत नँदरनियाँ ॥
डारत, खात, लेत आपन कर, रुचि मानत दधि दनियाँ ॥
आपुन खात नंद मुख नावत, सो सुख कहत न बनियाँ।

ज़रा और बड़े हुए तो उन्हें फ़िकर होने लगती है कि उनकी चोटी अभी तक नहीं बढ़ी। बलदाऊ की चोटी तो खूब लम्बी और मोटी है। अतः माता को उपालंभ दिया जा रहा है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
कितक बार मोहिं दूध पियत भइ यह अबहूँ है छोटी ॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हावत ओछत नागिन सी भ्वैं लोटी ॥
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी।
सूर स्याम चिरजीवो दोउ भैया हरि हलधर की जोटी ॥

अब कृष्ण खेलने जाने लगे हैं। बलदाऊ तथा ग्वाल-बाल उन्हें चिढ़ाया करते हैं। कृष्ण की शिकायत में रीस, उपालंभ, भोलापन और साथ-साथ माता का प्रेम-गद्-गद् होकर सान्त्वना देना, इस एक पद में एक ही साथ देखने को मिलते हैं—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिजायो।
मोसो कहत मोल की लीन्हो, तोहि जसुमति कब जायो ॥
कहा करौं एहि रिस के मारे खेलन हूँ नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुम्हरो तात ॥
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर ॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति सुनि सुनि रीझै ॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मो गोधन की सौं, हौ माता तू पूत ॥

माखन-चोरी सीख लेने पर दोषगोपन के लिए कुछ जरा सी 'धूर्तता' भी सीख लेना स्वाभाविक ही है। इस 'धूर्तता' मे कई कई बाल-मनोभाव आकर सम्मिलित हो गए हैं। बाल-चातुरी का एक अच्छा सा नमूना यह है—

मैया मोरी, मैं नहिं माखन खायो ।
भोर भयो गैयन के पीछे मधुबन मोहिं पठायो ॥
चार पहर बंसीवट भटक्यो साँझ परे घर आयो ।
मैं बालक बहियन को छोटो छीको किस विध पायो ॥
ग्वालबाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो ।
तू जननी मन की अति भोरी इनके कहे पतियायो ॥
जिय तेरे कछु भेद उपज है जान परायो जायो ।
यह लै अपनी लकुट कमरिया बहुतहिं नाच नचायो ॥
सूरदास तब बिहँसि जसोदा, लै उर कंठ लगायो ॥

इसके बाद जब चोरी की आदत अधिक बढ़ गई, तो केवल अपने घर में ही नहीं, बाहर, ग्वालिनों के घर जाकर भी मक्खन चुराने लगे। ग्वालिनियाँ आ-आ कर यशोदा से शिकायत किया करती थीं। पर जब यशोदा ने एक दिन क्रोध करके कृष्ण को उलूखल से बाँध दिया तो वही ग्वालिनियाँ आकर कृष्ण का पक्ष लेती हैं। इनके साथ ही साथ, निम्नोद्धृत पद में बँधे हुए पुत्र और बाँधने वाली माता के भाव भी दर्शनीय हैं—

देखो माई कान्ह हिचकियन रोवै।
तनक मुखहिं माखन लपटान्यो डरनि ते अँसुवन धोवै ॥
माखन लागि उलूखल बाँध्यो सकल लोग ब्रज जोवै।
निरखि कुरुख उन बालन की दिसि लाज न अँखियन धोवै ॥
ग्वालिन कहैं या गोरस कारन कत सुत की पति खोवै।
आनि देहिं हम अपने घर तें चाहत जितकु जसोवै ॥
जब जब बन्धन छोर्यो चाहति, सूर कहै "यह को वै"।
मन माधव तन चित गोरस में इहि विधि महरि बिलोवै ॥

इस प्रकार बाल्यावस्था से सम्बन्ध रखने वाली एक एक स्थिति, एक एक मनोभाव का, सूर ने बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है, जिसमें नायक कृष्ण के साथ ही साथ माता-पिता, सखा-साथी तथा ब्रज-गोपियों का भी यथोचित चित्रण हुआ है। परन्तु बाल्योत्तर अवस्था के वर्णनों में जो मनो-विज्ञान दिखाई देता है वह एकदेशीय है। कृष्ण गोपियों के प्रेय हैं और गोपिकाएँ प्रेमिका। पर सूरदास के नायक तो कृष्ण ही हैं। तथापि हम देखते हैं कि कृष्ण की मानसिक अवस्थाओं का इतना अधिक चित्रण नहीं किया गया जितना गोपियों की अवस्थाओं का—क्या तो संभोग शृंगार मे, और क्या विप्रलंभ शृंगार में ही। दूसरी बात यह है कि उत्कृष्टता की दृष्टि से विप्रलंभ का वर्णन ही अधिक श्रेष्ठ है। सूरसागर में भ्रमरगीत वाला अंश एक अद्भुत, अनमोल, हीरा है। कृष्ण के मथुरा जाकर वहीं बस रहने के बाद ब्रज की गोपिकाओं को जो विरह-वेदना होती है उस में उद्धव का आकर उनको निर्गुणज्ञान सिखाना उनके लिए कटे पर नमक का काम करता है। भ्रमरगीत मे गोपियाँ एक उड़ते हुए भौंरे को संबोधित कर उद्धव को खूब उलटी-सीधी सुनाती हैं और उन के निर्गुणज्ञान की खूब किरकिरी करती हैं।

सूरदास के विप्रलंभ-वर्णन में संभोग की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष का होना स्वाभाविक भी है। सूरदास स्वयं ही कृष्ण के विरही प्रेमी हैं, चिर-विरही हैं, और गोपिकाओं की पीड़ा वस्तुतः उनकी अपनी ही पीड़ा है। गोपिकाओं के रूप में हम उन्हीं की वाणी सुनते हैं। वहीं, यथार्थ में, नीरस निर्गुण-पंथियों के प्रतिनिधि उद्धव से भी अपनी समस्त हृदयवृत्ति के साथ उलझ रहे

हैं। अपनी भावमग्नता में आगे चल कर कल्पना द्वारा वे यह भी देख लेते हैं कि उद्धव को उन्होंने हरा दिया है और उद्धव भी 'नए मुसलमान' बन कर, प्रेम के रंग में अपने को पूरी तरह डुबा कर, कृष्ण की विहारभूमि के एक एक क्रीडास्थल में मतवाले बनकर नाचते फिर रहे हैं।

परन्तु संभोग-शृंगार उत्कृष्ट होते हुए भी भ्रमरगीत की टक्कर का क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि वह तो सूर की केवल कल्पना की ही चीज़ है, वास्तविक तो है नहीं। चिर-विरही होने के नाते वे कभी कभी आशा के उल्लास मे अपने प्रभु की दया-दृष्टि का मानसिक अनुभव अवश्य करते होंगे। यह मानसिक अनुभव ही उनके संभोग-वर्णन का आधार समझा जा सकता है। परन्तु विरह का अनुभव मानसिक नहीं, वह वास्तविक है और निरन्तर है। और, गोपियों की निराशा के रूप में, हम यह भी देखते हैं कि सूरदास विरह में भी संतुष्ट ही हैं, क्योंकि विरह से भी प्रेम पुष्ट ही होता है। हाँ, यदि वात्सल्य के अन्तर्गत भी हम किसी तरह संभोग और विप्रलंभ, दोनों, अवस्थाएँ मान सकें, तो हमें कहना ही पड़ेगा कि वहाँ संभोग की ही प्रधानता है तथा वहाँ का संभोग उत्तरावस्था के विप्रलंभ से अधिक उत्कृष्ट हुआ है।

क्या ऐसा नहीं हो सकता कि सूर-साहित्य का परोक्ष नायक हम सूरदास को ही मान सकें तथा कृष्णचन्द्र को नायिका। परोक्ष होने के कारण नायक, अवस्था अवस्था के अनुसार, भिन्न भिन्न रूपों मे हमारे सामने आता है और अपनी नायिका के, जिसमें कोई लिंगभेद नहीं है, तरह तरह के हाव-भावों और आचरणों

को देख कर भिन्न भिन्न मनोवृत्तियों को आश्रय देता है। नायिका-स्थानीय से लिंग-भेद के ज्ञान का तिरोहित होना बिलकुल असंभव तो नहीं है; यथा नायिका-स्थानीय जब पिता, पुत्र या माता अथवा शिशु हो और भाव, सूरदास की भाँति, एकमात्र भावना का प्रेम ही हो और जब कि ईश्वर ही नायिकास्थानीय हो तब तो यह ज़रा भी असंभव नहीं। कबीर का राम कभी उनके लिए पति हो जाता है, कभी पिता और कभी माता। अस्तु, यदि किसी भी तरह सूरकाव्य के नायक-नयिका के सम्बन्ध में हम यह दृक्कोण बना सकें तो उस काव्य के भिन्न-भिन्न भागों की इन विषमताओं का हम ज्यादा अच्छी तरह अनुसरण कर सकेंगे।

सूरदास के संभोगशृंगार के विशेष स्थल हैं दानलीला, मुरली-माधुरी, रासलीला, चीरहरण आदि। ये वास्तव में पूर्वराग और तत्पश्चवर्ती अवस्थाओं के सूचक हैं। राधा के पूर्वराग का इस तरह वर्णन किया गया है—

चित्त चंचल कुँवरि राधा, खान पान भुलाइ।
कबहुँ बिलपति, कबहुँ बिहँसति, सकुचि बहुरि लजाइ।
मात-पितु को त्रास मानति, मन बिना भइ बाइ॥

एक दूसरी गोपी कहती है—

जो विधना अपवस करि पाऊँ।
तौ सखि, कह्यौ होय कछु तेरो, अपनी साध पुराऊँ॥
लोचन रोम रोम प्रति माँगौं, पुनि पुनि त्रास दिखाऊँ।
इक टक रहैं, पलक नहिं लागें, पद्धति नई चलाऊँ॥

कृष्ण नंद-महर के बेटे हैं। उन्होंने वैसी भी व्रजवासियों की समय समय पर रक्षा की है। उनके अहसान काफ़ी हैं। इसलिए

कृष्ण गोपियों से दान, टैक्स, माँगते हैं इस पर उभय पक्षों में खूब चलती-चुभती बातें होती हैं। पर बातों ही बातों में कृष्ण ने तो अपना प्राप्य ले भी लिया। तब गोपियों और कृष्ण में यह बात-चीत हुई—

"नन्दकुमार, काह यह कीन्हो।
बूझत तुमहिं कहौ धौं हमसौं, दाने लियो कि मन हर लीन्हो।
कछू दुराव नहीं हम राख्यौ, निकट तुम्हारे आई।
एते पर तुमही अब जानौ, करनी भली बुराई॥"
"अब घर जाहु दान मैं पायो, लेखो कियो न जाई।"
"तनहि पर है मनहि राजा, जोइ करै सो होइ।
कहौ घर हम जाहिं कैसे, मन धरयो तुम गोइ॥"
"अजहुँ कहौ, रहिहैं अंनतहिं, तुम अपनो मन लेहु।
अब पछितानी लोक-लाज डर, हमहिं छाँड़ि तैं देहु॥
घटती होइ जाहिते अपनी ताको कीजै त्याग॥"

"तुमहि विना मन धृक, अरु धृक घर, तुमहिं विना धृक धृक माता पितु।
धृक कुल कानि और लाज डर ..
सूरदास प्रभु तुम बिन घर जो, बन भीतर के कूप॥"

इस प्रकार हृदय-दान, पूर्ण आत्म-समर्पण, हो चुकने पर अब बाकी ही क्या रहा? परन्तु मुरली और भी ग़ज़ब ढाती है। व्रज-बालाओं को बेसुध करके उसने स्वयं कृष्ण के प्रेम पर अधिकार जमा लिया है और हर समय उनके अधरों से लगी रहती है। वह गोपियों की सौत बन बैठी है—

अंगन की सुधि भूल गई।
स्याम अधर मृदु सुनत मुरलिका चकित नारि भई॥

जो जैसे तैसे ही रहि गई सुख दुख कह्यो न जाई।
लिखी चित्र की सी सब ह्वै गई एकटक पल बिसराई॥
काहू सुध काहू बुधि नाहीं सहज मुरलिका तान।
भवन भवन की सुधि न रही तनु सुनत सब्द वह-कान॥
सखियन तें मुरली अति प्यारी वे बैरिन यह सौत।
सूर परस्पर कहत गोपिका यह उपजी उदभौत॥

अनुमान किया जा सकता है कि जिन गोपियों का कृष्ण से ऐसा प्रेम था उनकी कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद क्या हालत हुई होगी। यहाँ दशा-क्रम के अनुसार सूर के विप्रलंभ शृंगार के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं। अलग अलग उदाहरणों का सौंदर्य-विवेचन तो नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि सूर के एक एक पद पर एक एक लेख लिखा जा सकता है, परन्तु सूरदास के अधिकांश पद स्वयं ही बोलते हैं। सुनने वाले मे केवल थोड़ी सी भावुकता होनी चाहिये।

इनमे से पहला यशोदा की दशा का वर्णन करता है तथा दूसरे मे यशोदा का देवकी के लिए करुणापूर्ण संदेश है। शेष उदाहरण गोपियों के विरह तथा गोपी-उद्धव संवाद से लिए गए हैं।

(क) मानौ हौं ऐसे ही मरि जैहौं।
इहि आँगन गोपाल लाल को कबहुँक कनियाँ लैहौं॥
कब वह मुख बहुरौ देखौंगी, कब वैसी सचुपैहौं।
कब मोपै माखन माँगैगो, कब रोटी धरि दैहौं॥
मिलन आस तनु प्रान रहत,है, दिन दस ,मारग चैहौं।
जो न सूर कान्ह अइहै तौ, जाइ जमुन धँसि जैहौं॥

(ख) सँदेसो देवकी सौं कहियो ।
हौं तौ धाय तिहारे सुत की, मया करत निर्त रहियो ।
जदपि टेव तुम जानत उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै ॥
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहि, माखन रोटी भावै ॥
तेल उबटनो अरु तातो जल, ताहि देखि भग जाते ।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम करि करि न्हाते ॥
सूर पथिक सुनि मोहिं रैन दिन बड़ो रहत उर सोच ।
मेरो अलख लडैतो मोहन, ह्वै है करत सँकोच ॥

(ङ) बिछुरे श्री ब्रजराज आजु इन नैन की परतीति गई ।
उठि न गई हरि संग तबहिं तें ह्वै न गई सखि स्याम मयी ॥
रूप रसिक लालची कहावत सो करनी कछु पै न भई ।
साँचे क्रूर कुटिल ए लोचन व्यथा मीन छवि छीन लई ॥
अब काहे जल सोचत मोचत समै गए तें सूल नई ।
सूरदास याही ते जड भए इन पलकन मिलि दगा दई ॥

(घ) बिन गोपाल बैरिन भई कुंजैं ।
तब ये लता लगति अति शीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं ॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलें, अलि गुंजैं ।
पवन हानि घनसार सजीवनि दधिसुत किरन भानु भई भुंजैं ॥
ए ऊधो कहियो माधव सों बिरह कदन करि मारत लुंजैं ।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भई बैरन ज्यौं गुंजैं ॥

(ङ) सँदेसनि मधुवन कूप भरे ।
जे कोइ पथिक गए हैं ह्याँते फिर नहि गवन करे ॥
कै वै स्याम सिखाय समोधे, कै वै बीच मरे ।
अपने नहिं पठवत नँदनंदन हमरेउ फेरि धरे ॥

मसि खूँटी कागर जल भीजे, सर दौ लागि जरे।
पाती लिखैं को क्यों करि जो पलक कपाट अरे॥

(च) ऊधो जो तुम हमहिं सुनाओ।
सो हम निपट कठिनई हठि कै या मन को समुझायो॥
जुगुति जतन बहु हमहुँ ताहि गहि सुपथ पंथ लौ लायो।
भटकि फिरयो बोहित के खग ज्यों पुनि फिरि हरि पै आयो।
अब वैसो उपाय उपदेसौ जिहिं जिय जात जियायो।
एक बार जो मिलहिं सूर प्रभु कीजे अपनो भायो।

(छ) मधुकर कान्ह कही नहिं होहीं।
कीधौं नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोही॥
सचि राखा कूबरी पीठ पै ये बातें चकचोही।
स्याम सुगाहक पाय सखी री छार दिखायो मोही॥
नागरमनि जे सोभासागर जग जुवती हँसि मोहीं।
लियो रूप दै ज्ञान ठगौरी, भलो ठग्यो ठग वोही॥
है निरगुन कुबरी सरवरि अब घटी करी हम जोही।
सूर सो नागरि जोग दीन जिन तिनहिं आज सब सोही॥

(ज) ऊधो तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै किन बेकाज ररौ॥
जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहत हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुनि देखियत नहिं नीकी॥
साधु होय तेहि उत्तर दीजै, तुमसों मानी हारि।
याही तैं तुम्हैं नँदनन्दन जू यहाँ पठाए टारि॥
मथुरा बेगि गहौ इन पाँयन, उपज्यौ है तन रोग।
सूर सुवैद बेगि किन ढूँढौ भए अर्द्धजल जोग॥

(क) रहि रे मधुकर मधु मतवारे।
कहा करौं निरगुन लेकै हौं, जीवहु कान्ह हमारे ॥
लोटत नीच पराग पंक में पचत न आपु सम्हारे।
बारम्बार सरक मदिरा की अपरस कहा उघारे ॥
तुम जानत हम हू वैसी है जैसे कुसुम तिहारे।
घरी पहर सबको बिलमावत जेते आवत कारे ॥
सुन्दर श्याम कमलदल लोचन जसुमति नन्द दुलारे।
सूर स्याम को सरवसु अर्प्यो अब कापै हम हिं उघारें ॥

वास्तव में सूरदास की रसात्मकता के यथेष्ठ उदाहरण दे सकना परम कठिन कार्य है। यह निश्चय करना ही कठिन हो जाता है कि किस पद को उद्धृत किया जाए और किसे छोड़ा जाए। प्रत्येक पद ही किसी न किसी भावभंगी का प्रकाशक है। 'अनुभावों और संचारियो का इतना बाहुल्य' और कहीं न मिलेगा जितना सूरदास में। अनुभावो और संचारियो के ऐसे व्यापार मे ही सूरदास जी की भावुकता का प्रसाद दृष्टिगोचर होता है—उसमे वर्णनकर्म का उत्तरदायित्व इतना व्यापक नहीं है। सूरदास के स्थिर चित्रों के वर्णनों मे प्रायः परंपरागत उपमानों के प्रयोग तथा बार-बार उन्हीं की आवृत्ति ने किसी विशेष भावव्यंजना को सहायता नहीं पहुँचाई। कृष्ण के रूप-वर्णन में गुरु, कुज, शनि आदि को अथवा फिर चन्द्र, कमल, मृग, मीन, कीर, खंजन आदि को देखते-देखते कभी कभी तो जी ऊब जाता है।

भावुकता के अतिरिक्त सूर के काव्य मे एक मनोहर लक्षण भी मिलेगा, जो अन्ततः भावुकता से ही सम्बंध रखता हुआ भी, एक भिन्नगण्य तत्त्व है। वह लक्षण है 'वाग्वैदग्ध्य' या वाणी

की चातुरी। कृष्ण और राधा के प्रथम मिलन की बातचीत में यह लक्षण अपने सरल मनोमोहक रूप में देखा जा सकता है। कृष्ण राधा को एक दिन यमुनातट पर पहली ही बार देख कर उस पर तत्काल रीझ गए हैं। उस समय—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रजखोरी॥
काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलति रहत आपनि पौरी।
सुनति रहति स्रवनन नँदढोटा, करत रहत माखन दधि-चोरी॥
तुम्हरी कहा चोरि हम लैहै; खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी॥

एक छोटा सा उदाहरण यह भी है—

ऊधो; मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग, को अवराधै ईस॥

तानाजनी अथवा व्यंग्योक्ति के कतिपय उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

(क) भए हरि मधुपुरी राजा बड़े बंस कहाय
सूत मागध वदत विरुदहि वरनि वसुधो तात।
राजभूषन अंग भ्राजत, अहिर कहत लजात॥

(ख) कै तुम सिखै पठाए कुब्जा, कही स्याम घन जू धौं।
बेद पुरान सुमृति सब ढूँढी जुबतिन जोग कहूँ धौं॥
ताको कहा परेखो कीजै जानत छाँछ न दूधौ।
सूर मूर अक्रूर गयो लै, ब्याज निबेरत ऊधौ।

(ग) सखी री स्याम कहा हितु जानै।
सूरदास सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै॥

(घ) अपनी ज्ञान-कथा ए ऊधो मथुरा ही ले जाउ।
नागरि नारि भली समुझैंगी तेरो वचन वनाउ ॥

सूरदास ने अलंकारों की भी खूब योजना की है उत्प्रेक्षा और रूपक इनके दो अतिप्रिय अलंकार हैं। जिन स्थलों में इन्होंने अलंकार का प्रयोग केवल अलंकार अथवा पांडित्य-प्रदर्शन के लिए किया है, उन स्थलो को छोड़ कर अन्यत्र इनके अलंकार भावाभिव्यक्ति में पूर्ण सहायक हुए हैं यथा—

१, हमको सपने हू में सोच।
जा दिन तें बिछुरे नँदनंदन ता दिन ते यह पोच
मनौ गोपाल आए मेरे घर, हँस कर भुजा गही।
कहा करौं बैरिन भइ निंदिया, निमिष न और रही ॥
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखि कै आनन्दी पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर विधाता चपल कियो जल आनि।

२ भृकुटि विकट नयन अति चंचल, यह छवि पर उपमा इक आवत।
धनुष देखि खंजन जिमि डरपत नाहिं सकत उठिवे अकुलावत ॥

कभी कभी अलंकार केवल अलंकार रूप में प्रयुक्त होता हुआ भी सात्त्विक कल्पना के चमत्कार का सुख देने वाला बना है, जैसे—

फटिक भूमि पर कर पग छाया यह शोभा अति राजति।
करि करि प्रति पद पद प्रति मनो बसुधा कमलबैठिकी साजति।

सूरदास की भाषा साधारण बोलचाल की ब्रजभाषा है, परन्तु फिर भी उसमे साहित्यिक भाषा का चमत्कार मौजूद है। उनकी भाषा में माधुर्यगुण तो सर्वत्र ही है। बहुत से ऊबड़-खाबड़ समस्त पद या संयुक्ताक्षरों की खटखटाहट उसमें दृष्टिगोचर नहीं

होती। तथापि एक दोष उसमें बड़ा जबरदस्त है, सूरदास की भाषा मे लापरवाही बहुत ज्यादा दिखाई देती है। उन्होंने तुक के लिए प्रायः अपने शब्दों को जगह जगह बनाया-बिगाड़ा है तथा कहीं-कहीं पर व्याकरण की अशुद्धियाँ भी कर दी हैं। गति के लिए "सु" और "जु" के भी निरर्थक प्रयोग किए हैं। कहीं कहीं उन्होने अरबी-फारसी आदि भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी, उन्हे अपने साँचे मे ढाल कर, कर दिया है।

सूर का काव्य गीतिकाव्य है। तरह तरह की राग-रागिनियो मे ही इसकी रचना हुई है। हिन्दी में अन्य अनेक कवियो की भी गीति-रचनाएँ मौजूद हैं परन्तु जितने लोकप्रिय इनके (तथा मीराबाई के) पद हैं उतने अन्य किसी के नहीं। संगीतप्रिय लोगो की तो वे संपत्ति हैं। इसका कारण, जैसा कि हम कह आए हैं, इन पदो की गहरी भावुकता, भक्तिप्राणता तथा मधुरता है। भक्ति की दृष्टि से तुलसीदास जी की विनयपत्रिका के भी बहुत से पद लोगों की ज़बान पर रहते हैं।

इस प्रसंग में इतना और संकेत कर देना उचित मालूम होता है कि हिन्दी साहित्य मे, बहुत समय पहले से ही, सूर और तुलसी के काव्य लोगों की तुलनात्मक बुद्धि को उत्तेजित करते रहे हैं, और शायद आगे भी करते रहेंगे। किन्हीं भी दो कवियो के काव्य की तुलना करते समय उनके निजी व्यक्तित्व और दृष्टिकोण को सहानुभूति के साथ समझ लेना उपयोगी होता है। इस पुस्तक मे सूरदास और तुलसीदास पर उपस्थित किए गए दोनों लेखों से, संभव है, इन महाकवियों के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण का कुछ आभास मिल सके। दृष्टिकोण का समुचित

ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भावात्मकता के साथ ही साथ 'कलात्मकता'—संबंधी बहुत से प्रश्नों का भी आप ही आप समाधान हो जाता है। कई आचार्यों ने काव्य में 'भावपक्ष' और 'कलापक्ष' नाम के दो अलग पक्ष स्वीकार किए हैं। हमारी समझ में पक्षों का यह वर्गीकरण कुछ कृत्रिम सा है। काव्य मे भावुकता और कलात्मकता दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी कब पैदा हुए, इनके माता-पिता कौन थे और क्या करते थे तथा ये कहाँ के रहने वाले थे, आदि बातो का पता अभी-तक विद्वानों को नहीं लगा। स्वयं जायसी के कथन से इतना मालूम होता है कि ये शेरशाह के समय में थे। इन्होने अपनी पदमावत के आरंभ में शेरशाह की प्रशंसा की है और ग्रंथारंभ का समय सन् ६४७ हिजरी (संवत् १५६७) बताया है, जो कि शेरशाह का समय था। पदमावत आरंभ करने के कुछ समय बाद ये जायस में आकर रहने लगे थे।— 'जायस नगर धरम अस्थानू, तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू' बचपन में चेचक निकलने के कारण इनकी एक आँख जाती रही थी। ये फकीर थे।

इनके लिखे हुए दो ग्रंथ 'पदमावत' और 'अखरावट' हैं। अखरावट तो एक छोटी सी पुस्तिका है, जिसमें सिद्धान्त-संबंधी बातें हैं। महाकवियों मे इनका स्थान पदमावत के कारण है। पदमावत फारसी मसनवियो के ढंग पर अवधी भाषा मे लिखी गई एक लंबी चौडी प्रेम-कहानी है। इसके पहले इसी तरह की

चार-पाँच और प्रेम-कहानियाँ भी लिखी जा चुकी थीं, जिनका उल्लेख जायसी ने अपने ग्रंथ में किया है।

संक्षेप में पद्मावत की कथा इस प्रकार है—

सिंहल के राजा गंधर्वसेन की लड़की पद्मावती जब जवान हुई तो उसे काम सताने लगा। परन्तु उसका पिता प्रताप और ऐश्वर्य में अपने समान किसी को न देखकर उसका विवाह न करता था। तब पद्मावती के तोते हीरामन ने उसके लिए वर ढूँढने की प्रतिज्ञा की और एक रोज मौक़ा देखकर वह उड़ गया। जंगल में वह एक चिड़ीमार के हाथ मे पड़ गया, जो उसे बेचने के लिए बाज़ार में ले आया। यहाँ चित्तौड़गढ़ से आए हुए एक ब्राह्मण ने उसे खरीद लिया। जब ब्राह्मण वापिस चित्तौड़गढ़ पहुँचा तो वहाँ के राजा रतनसेन ने तोते के गुणों पर रीझ कर ब्राह्मण से मोल ले लिया।

एक दिन रतनसेन की रानी नागमती से तोता पद्मावती के अद्वितीय सौंदर्य की चर्चा कर बैठा। रानी को आशका हुई कि कहीं वह राजा से पद्मावती के रूप की प्रशंसा न कर दे और उसने शुक को मार देने के लिए अपनी धाय को आज्ञा दी। पर धाय ने शुक को छिपा रक्खा।

राजा को जब रानी के काम का पता लगा तो उसने रानी से तोता या तोते के बदले में उसके प्राण माँगे। राजा को जब तोता मिल गया तो तोते ने उससे सच-सच बात कह दी और इस प्रसंग में पद्मावती के रूप की खूब प्रशंसा की। बस, राजा तो बेसुध हो गया और फिर योगी होकर पद्मावती के लिए निकल पड़ा। बड़े कष्ट के साथ सात समुद्रों को पार कर अपने साथियों सहित वह सिंहल पहुँचा। शुक के समाचार पाकर पद्मावती ने राजा

के पास संदेशा भिजवाया कि वसन्त-पंचमी को वह महादेव जी के मंदिर में आकर उससे मिलेगी।

पर जब पद्मावती शिवजी की पूजा करने पहुँची तो उसे देखते ही राजा मूर्छित हो गया। पद्मावती वापिस चली गई। राजा को जब होश हुआ और उसने पद्मावती को न देखा तो वह जान देने पर उतारू हो गया। तब पार्वती जी ने महादेव जी से उसकी रक्षा करने की प्रार्थना की और महादेव जी ने सिद्धगुटिका देकर राजा को गढ़ पर चढ़ने का आदेश दिया। राजा ने साथियों सहित गढ़ को जा घेरा। अन्ततः सब के सब पकड़ लिए गए और राजा को सूली पर चढाने की आज्ञा हुई। पर महादेव जी ने फिर सहायता की और गंधर्वसेन को रतनसेन का वास्तविक परिचय मिलने पर उसने पद्मावती के साथ उसका विवाह कर दिया।

इस बीच मे नागमती, विरह से व्याकुल, रोती फिरती थी। एक पक्षी उसका विलाप सुनकर सिंहल गया और उसने राजा से विरहिणी का हाल कहा, जिसे सुन राजा ने अपने देश को लौटने का इरादा किया। गंधर्वसेन ने बहुत धन देकर उसको विदा किया। वापिसी समुद्र-यात्रा में रतनसेन तूफान आ जाने के कारण पद्मावती से वियुक्त हो गया। यहाँ समुद्र की बेटी लक्ष्मी की सहायता से दोनों पुनः एक दूसरे से मिल गए और समुद्र से पाँच विशेष पदार्थ भेंट मे पाकर सकुशल चित्तौड़ पहुँचे।

यहाँ आकर राजा ने अपने एक दुष्ट सभासद राघवचेतन को देश-निकाला दे दिया। राघव दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के पास पहुँचा और उसने पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन कर

बादशाह को चित्तौड़ पर चढ़ाई करने के लिए प्रेरित किया। परंतु बादशाह आठ वर्ष तक घेरा डाले रहकर भी चित्तौड़ को सर न कर सका। तब वह झूठी संधि करके और राजा के महल में भोज के अवसर पर पद्मावती की दर्पणगत छाया देखकर राजा को धोखे से कैद करके दिल्ली ले गया।

इस अवसर पर राजा के दो सरदार, गोरा और बादल सहायक हुए। सोलह सौ बंद पालकियों मे सशस्त्र सैनिकों को बिठा कर वे दिल्ली पहुँचे और उन्होंने बादशाह को सूचना दी कि पद्मावती अपनी दासियों सहित बादशाह के रनवास मे रहने को आई है, परन्तु एक बार वह राजा से मिल लेना चाहती है। बादशाह की अनुमति मिल जाने पर रानी की पालकी राजा के कारागृह में पहुँची, परन्तु पालकी में से रानी के बजाय एक लुहार निकला। लुहार ने राजा की बेड़ियाँ काट दीं और तत्काल राजा घोड़े पर सवार होकर भाग निकला। अन्य पालकियों के सैनिक भी निकल आए। राजा सकुशल अपने राज्य में पहुँच गया।

वहाँ आकर उसे कुंभलनेर के राजा देवपाल से युद्ध करना पड़ा, क्योंकि रतनसेन की अनुपस्थिति मे देवपाल ने एक कुटनी द्वारा पद्मावती को बहकाने की चेष्टा की थी। इस युद्ध के परिणाम में रतनसेन और देवपाल दोनों ने प्राणों से हाथ धोये और नागमती तथा पद्मावती सती हो गईं।

जायसी ने हमें बताया है कि यह सारी कथा अन्योक्ति के रूप में है। ग्रंथ में उन्होंने कहा है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनी चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥

नागमती यह दुनिया-धंधा । बाँचा सोई न एहि चित बंधा ॥
राघव दूत सोई सैतानू । माया अलाउदीं सुलतानू ॥
प्रेम-कथा एहि भाँति विचारहु । बूझि लेहु जौ बूझै पारहु ॥

इन पंक्तियों को हमें केवल इस बात के प्रमाण के लिए ही ग्रहण करना चाहिए कि पदमावती की प्रेमकथा में पारमार्थिक तत्त्व का अध्यारोप है। सारी कथा जीवात्मा की परमात्मा को पाने के लिए व्याकुल चेष्टा तथा दोनों के सम्मिलन की कहानी है। यदि हम जायसी की उपर्युक्त व्याख्या को इससे अधिक मात्रा में स्वीकार करते हैं तो उनके रूपकांगो के संबंध के बारे मे कुछ संदेह उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि, यदि पदमावती या पदमिनी बुद्धि का प्रतीक है तो रतनसेन की उसके लिये दौड़, वास्तव में, उस परम तत्त्व के लिए दौड़ नहीं है, जिसका केवल प्रकाश इस चराचर सृष्टि के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। अथवा फिर हम यह मानें कि बुद्धि ही वह परम तत्त्व है। ब्रह्म को चिद्रूप समझते हुए ऐसा माना जा सकता है; और अद्वैत मत के संबंध से, जिसके अनुसार केवल माया ही एक बाधक तत्त्व है, ऐसा माना जाना संभव हो सकता है। परन्तु माया को मान लेने के बाद शैतान को भी (जिसका उल्लेख मुसलमानी और ईसाई धर्मों मे किया गया है) मानने की ज़रूरत नही रहती। इसके अतिरिक्त माया ब्रह्म को प्राप्त करने तक की अवस्थाओं मे ही बाधक होती है, लेकिन 'पदमावती' में रतनसेन और पदमावती का मिलन हो जाने के पश्चात् अलाउद्दीनरूपी माया अपना बखेड़ा खड़ा करती है। फिर, अद्वैत मत के अनुसार मायालिप्त ब्रह्म का (जो शायद जायसी के उपर्युक्त रूपक में मन कहा जा सकता है) मायायुक्त होना (अर्थात् अपनी शुद्ध ब्रह्मा-

वस्था को प्राप्त करना), वस्तुतः उस अवस्था को प्राप्त करना है जिसे हम बोलचाल की व्यापक भाषा में 'मोक्ष' कहते हैं। ऐसी अवस्था में रतनसेन का (और देवपाल का भी) पारस्परिक युद्ध में मारे जाने का क्या अर्थ हो सकता है पारमार्थिक पक्ष में यह देवपाल कौन है और कहाँ से आया ? यदि वह जिज्ञासु या मुमुक्षु के बचे-खुचे भ्रमों के रूप में परिलक्षित होता है तो हमारी पहली आपत्ति फिर खड़ी होती है कि पद्मावती रूपी बुद्धि चिद्ब्रह्म नहीं है, वह केवल ब्रह्म को प्राप्त करने में ज्ञान रूप साधन है। इस दृष्टिकोण को लेते हुए यह भ्रम स्वाभाविक हो जाता है कि देवपाल-रूपी कोई तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी मन और बुद्धि को नष्ट कर दे सकता है। मन (अर्थात् अहंकार और तत्स्वरूप संकल्प विकल्प) का नष्ट हो जाना तो ठीक है—और हम यह भी देखते हैं कि रतनसेन देवपाल को मारने के बाद मरता है—परन्तु पद्मावती रूपी बुद्धि या ज्ञान का नष्ट हो जाना (सती होना) समझ में नहीं आता। अथवा, क्या 'सती' शब्द श्लिष्ट है। यदि 'सती' सद्रूप-कैवल्य-ज्ञान का प्रतीक मान लिया जाय तो इस अविद्यारूप प्रपंच से मुक्त होने वाले मन के साथ उसका जाना ठीक है।—

'औ जो गांठि, कंत, तुम्ह जोरी। आदि-अन्त लहि जाइ न छोरी।'

परन्तु ये शब्द नागमती और पद्मावती दोनों ही के सती होते समय के शब्द हैं। और, नागमती को भी सत्य पर स्थित सती कहा गया है—'दुवी महा सत सती बखानी'; और नागमती 'यह दुनियां-धंधा' के रूप में प्रपंच भी है। यदि नागमती के सहगमन का समाधान किसी प्रकार हो जाए, और यदि थोड़ी देर के लिए

रतनसेन से सूक्ष्म की प्रतीकता को हम हटा दें, तो यह कहा जा सकता है कि रतनसेन देही साधक है और पद्मावती साध्य। उस समय साधक द्वारा साध्य की प्राप्ति हो जाने के पश्चात्, साधक के भौतिक-शरीर-त्याग के रूप में, हम देवपाल-तत्त्व का समाधान कर सकते हैं।

हमारा अभिप्राय जायसी की विचार-परंपरा अथवा भाव परंपरा से विवाद करने का नहीं है। वस्तुतः विवाद करने की जायसी में कोई गुंजाइश नहीं, क्योंकि हमारी धारणा है कि काव्य मे शुद्ध अद्वैत कहीं मिल ही नहीं सकता। *शुद्ध ज्ञान निवृत्तिरूप होने के कारण उस के साथ काव्य की प्रवृत्तिमूला भावसंसृति का रहना असंभव है। शुद्ध ज्ञान जीवन्मुक्त का ही होता है और उसकी कल्पना जीवन्मुक्त हुए बिना नहीं की जा सकती—केवल

*कबीर की समीक्षा में जो थोड़ा सा विवाद उठाया गया था वह कबीर के उलझे हुए व्यक्तित्व के कारण। कबीर और जायसी मे आकाश-पाताल का अन्तर है। कबीर अपने यथार्थ व्यक्तित्व में कवि नहीं हैं, वह एक विचारक है और, अपने विचारों में भ्रांति होते हुए भी, उन्हे अपने विचारक-पद और ज्ञान का गर्व है, जैसा कि केवल निराकार को मानने वाले आजकल के बहुत से प्लैटफार्म-प्रचारकों में देखा जाता है। परन्तु जायसी अपने पूर्णरूप में कवि और भावुक हैं और—विचारक वे उतने और उसी तरह के है जैसे कि संसार के कर्म करने वाले कितने ही सरल प्राणी हुआ करते है। यदि हम लोग ही अपने जीवनों में टटोलें तो हमको कोई कोई ऐसे पल दिखाई देंगे जब कि हमने तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म या ईश्वर को जानने की इच्छा की होगी और अपने मन में कहा होगा कि ईश्वर को छोड़ कर और सब कुछ नि·सार है।

परिभाषाओं को पकड़ कर यह कहा जा सकता है कि वह असंप्रज्ञात समाधि की सच्चिदानन्दमयी अवस्था है। जीवन्मुक्त चौबीस घंटे—जागता, कर्म करता, हुआ भी—समाधिस्थ रहता है। जीवन्मुक्त की अवस्था में सत्, चित और आनन्द का भी विभेद नहीं रहता और जीवन्मुक्त स्वयं सब प्रकार की उपाधियों से विहीन, 'निर्गुण', हो जाता है। इससे पहले की अवस्थाओं में, कम या अधिक परिमाण में, ज्ञान की पिपासा रहती है, जो स्वयं एक प्रवृत्ति है, और इस प्रकार सगुणात्मिका है। अद्वैतवाद में माया ब्रह्म और शुद्ध ब्रह्म का ऐकात्म्य सिद्धान्त है—ब्रह्म को प्राप्त करने या उस तक पहुँचने का सवाल ही नहीं—तथा प्रकृति के नामरूप 'अविद्या' अथवा माया है, और तिरस्करणीय हैं। परन्तु जायसी की सृष्टि सौंदर्य है; क्योंकि वह नाना रूपों में उस परम ज्योति का ही प्रकाश है,—वह अपनी किसी अलग सत्ता के कारण सुन्दर नहीं। अतएव जायसी की उद्धृत चौपाइयाँ जायसी की पारमार्थिक प्रवृत्तियों की ही द्योतक हैं। वे 'पद्मावत' की कथा की वास्तविक व्याख्या नहीं है। इतना लिखने की आवश्यकता इसी लिए प्रतीत हुई कि वे (चौपाइयाँ) जायसी के काव्य का अभिप्राय ग्रहण कराने में भ्रामक न हो जाएँ। क्योंकि यद्यपि तत्त्वदृष्टि से जायसी 'अखरावट' में यह कहते हैं कि—

पानी महँ बुल्ला, तस यह जग उतराइ।
एकहि आवत देखिये, एकहि जात बिलाइ॥

तथापि अपने वास्तविक रूप में वे प्रवृत्ति-प्रधान ही हैं। अपनी प्रवृत्ति की चरितार्थता के लिये उन्हें जहाँ कहीं भी, जैसे भी, अवसर मिला है वहाँ उन्होंने उसका उपयोग किया है। उद्धृत

चौपाइयों में सिद्धांत रूप से यद्यपि उन्होंने रतनसेन को मन (अथवा जीव) और पद्मावती को बुद्धि (अथवा ब्रह्म) माना है, तथापि ग्रन्थ के भीतर, दोनों का मिलन हो जाने पर हम रतनसेन को पद्मावती से यह भी कहता हुआ सुनते हैं—

"अनु धनि, तू निसिअर निसि माहाँ। हौं दिनिअर जेहि कै तू छाहाँ॥"

अतएव उनके काव्य का समुचित आस्वादन करते समय हमें ऊपर कही गई बात को अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए।

जायसी ग्रन्थावली की भूमिका मे पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा—"जायसी की उपासना माधुर्य-भाव से, प्रेमी और प्रिय के भाव से, है। उनका प्रियतम संसार के परदे के भीतर छिपा हुआ है। जहाँ जिस रूप मे उसका आभास कोई दिखाता है वहाँ उसी रूप मे उसे देख वे गद्गद होते हैं। वे उसे पूर्णतया ज्ञेय या प्रमेय नहीं मानते। उन्हें यही दिखाई पड़ता है कि प्रत्येक मत अपनी पहुँच के अनुसार, अपने मार्ग के अनुसार, उसका कुछ अंशतः वर्णन करता है।"

इसीलिए हम देखते हैं कि कबीर जी की भाँति जायसी ने दूसरो के मतो का खंडन नहीं किया, बल्कि उनके प्रति किसी न किसी अंश मे ग्राहिका रुचि ही प्रदर्शित की है। सर्व प्रथम, ग्रन्थारंभ में उन्होंने सृष्टि का लोक-विश्वासानुसार वर्णन किया है। उसमे ईश्वर, जीव और संसार, ये तीन अलग अलग तत्त्व माने गये हैं, जो मुसलिम एकेश्वरवाद के अनुकूल हैं। यथा—

"सुमिरौं आदि एक करतार। जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसार।" इस के बाद फिर वे सृष्ट ससार के भिन्न भिन्न पदार्थों की गणना करते हैं जो कहीं तो हिन्दुओं में माने जाने वाले सृष्टि-क्रम के अनुसार

देती है और कहीं मुसलमानों के सृष्टि-क्रम के अनुसार। पदार्थ-गणना तथा उस ईश्वर के गुणानुवाद के बाद ही, फिर, जायसी इन सब पदार्थों को अस्वीकार कर के एक दम अद्वैतवाद के सन्निकट पहुँचते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—"सबै नास्ति वह अहथिर।"

इसके तत्काल बाद ही मालूम होता है कि "परगट गुपुत सो सरब बिआपी" अथवा अन्यत्र "परगट गुपुत सकल महँ, पूरि रहा सो नावँ।"

यह वस्तुतः सूफियों के अभिव्यक्तिवाद का स्वरूप है। कहीं कहीं विशिष्टाद्वैत के भी दर्शन हो जाते हैं जैसे "अखरावट" में "खा-खेलार जस है दुइ करा। उहै रूप आदम अवतरा।" इस अर्द्धाली में आदम का जो जिक्र है, वह मुसलमानी और ईसाई मत के अनुसार है। आदम के बारे में 'अखरावट' में ही अन्यत्र अधिक स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "खाएनि गोहूँ कुमति भुलाने। परे आइ जग महँ पछिताने।"

साधना-कर्म के लिए जायसी ने हठयोग की पद्धति का निम्नलिखित रूपक में उल्लेख किया है—

टा-टुक झाँकहुँ सातौ खंडा। खंडे खंड लखहु बरम्हंडा।
पहिल खंड जो सनीचर नाऊँ। लखि न अँटकु, पौरी महँ ठाऊँ।
दूसर खंड बृहस्पति तहँवाँ। काम-दुवार भोग-घर जहँवाँ।
तीसर खंड जो मंगल जानहु। नाभि-कमल महँ ओहि अस्थानहु।
चौथ खंड जो आदित अहई। बाईं दिसि अस्तन महँ रहई।
पाँचवँ खंड सुक्र उपराहीं। कंठ माहँ और जीभ-तराहीं।
छठएँ खंड बुद्ध कर बासा। दुइ भौंहन्ह के बीच निवासा।

सातवँ सोम कपार महे, कहा सो दसवँ दुआर।
जो वह पँवरि उघारै, सो वड़ सिद्ध अपार॥

हठयोग की साधना के साथ जायसी ने 'पद्मावत' मे सूफ़ी साधना की चार अवस्थाओं को भी मिलाया है—

नवौं खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै सत सौं उतरै पार॥

पदमावत को पढ़ने से मालूम होता है कि जायसी को विशेष प्रवृत्ति सूफी मत की ओर ही थी। सूफ़ियों के अनुसार ईश्वर की कल्पना बडी ही सौंदर्यमयी और माधुर्यपूर्ण है और यह समस्त चराचर जगत उस ईश्वर का ही प्रतिबिंब है। अतः सूफी महानुभाव जगत् के नाना पदार्थों और स्वरूपों को स्वाधीन सत्ता न मानते हुए भी उन्हें घृणा की वस्तु नहीं समझते, प्रत्युत वे उनमे भी परम ज्योति के ही प्रकाश और सौन्दर्य को देखने का प्रयत्न करते हैं। परम ज्योति के संबंध से उनके इस प्रयास में कोमलता और भावुकता रहती है जो परम ज्योति के प्रति उनके प्रेम और विरह का अप्रस्तुत स्वरूप होती है।

यही स्वरूप रहस्यवाद का भी है। रहस्यवाद मे भी, मनुष्य भौतिक रूपकारो और दशाओ मे किसी ईश्वरीय सत्ता या अभिप्राय को ढूँढा करता है। अतएव जायसी हमारे सामने रहस्यवादी कवि के नाते से भी उपस्थित होते हैं। उनका पदमावत मसनवियों के ढँग का होने पर भी महाकाव्य है और भौतिक प्रेम-कहानी के वहाने, उसमें कवि के ईश्वर-संबंधी उल्लास, प्रेम तथा विरह की मनोमुग्धकरी व्यंजना है। नीचे का दोहा

जगत् के पदार्थों में उस परोक्ष सत्ता का प्रतिबिंब हेतु के रूप मे देख रहा है—

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर॥

संसार के भिन्न भिन्न पदार्थों और जीवों में, जो राग (या अनुराग) दिखाई देता है वह इसलिए कि सब कुछ उसी के रंग में रँगा हुआ है। निम्नलिखित चौपाइयों में कहा है—

सूरुज बूडि-उठा होई ताता। औ मजीठ, टेसू बन राता।
भा बसन्त रातीं बनसपती। औ राते सब जोगी जती।
भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू। औ राते सब पंखि पखेरू।
राती सती, अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया।

हर किसी के एक ही तरह के रंग में रँगे होने का भी कुछ मर्म होता है। हाँ, हर कोई उसके रूप-बाण अथवा विरह-बाण से बिंधा हुआ है—

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा।
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओहि के हने।

इसीलिए सृष्टि में जो यह हलचल और दौड़-धूप दिखाई देती है, सब उसी को पाने के लिए है—

चाँद सुरुज औ नखत तराईं। तेहि डर अंतरिख फिरहिं सबाईं।
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइँ रहा।
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना। धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना।
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ, आइ भुइँ चूआ।

परन्तु वह किसी के भी हाथ नहीं आता। क्या विकलता के कारण सब को दिग्भ्रम हो गया है, इसलिए? क्योंकि वह तो

सब के भीतर ही विद्यमान है। और, भीतर ही विद्यमान होता हुआ भी नहीं मिलता, यह सब से बड़ा रोना है—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे, मिलाव, कहौं केहि रोई।

रहस्यवादी प्रवृत्ति के ये परोक्ष-सबंधी लक्ष्य 'पद्मावत' में स्थान-स्थान पर मिलते हैं और कथा-प्रसार में वे प्रायः अप्रासंगिक या उखड़े हुए नहीं मालूम होते। अधिकतर रहस्यवादी भाव व्यंग्य ही हैं—पात्र या दृश्य के सौन्दर्य आदि की आड में ही सारतत्त्व के सौंदर्य आदि का संकेत किया गया है। उदाहरणार्थ, पारमार्थिक मूलतत्त्व के प्रतीक पात्ररूप में पद्मावती, और कहीं-कहीं रतनसेन, हैं। योगदृष्टि से 'नव पौरी बाँकी, नवखंडा। नवौ जो चढ़ै जाइ बरह्मंडा' तथा 'दसवँ दुआरा' कह कर शारीरिक विभागों और ब्रह्मरन्ध्र का जो संकेत किया गया है वह प्रकृत-पक्ष में सिंहलगढ़ की दुर्गमता तथा ऊँचाई का वर्णन है, जिसमे 'बरम्हंडा' का अर्थ 'आकाश' है।

रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति हमें उन सब स्थानों में देखने को मिलेगी जहाँ किसी विशेष परिस्थिति या दृश्य से कवि एकदम प्रभावित हो उठता है और उसे उसके द्वारा ईश्वर की याद आजाती है। परन्तु यह समझना कि 'पदमावत' में सर्वत्र, पंक्ति पंक्ति मे, रहस्यवाद ही रहस्यवाद है हमारी भूल होगी। लौकिक कथा की दृष्टि से लौकिक व्यवहार, कथा-संबंध तथा स्वाभाविकता के सामंजस्य के लिए कवि ने प्रकृत घटनाओं और व्यक्तिगत मनोवृत्तियों को सर्वत्र प्रोत्साहन दिया है जिनमें किसी आध्यात्मिक उद्देश्य को ढूँढना अप्रयोजनीय होगा। परन्तु यहाँ भी हम सूफी और रहस्यवादी महात्मा की विशेषता को पूर्ण रूप

से पाते हैं। ऐसे स्थलों में भी जायसी ने अपनी सरल सुभग सुहानुभूति से काम लिया है।

मानवीय भावों तथा अवस्थाओं का सृष्टि के साथ साथ सामंजस्य हमें जायसी में सर्वत्र मिलता है। बारहमासा-वर्णन और नखशिख वर्णन करने की काव्य मे परिपाटी सी बनी हुई थी। बहुत से कवियों ने इस परिपाटी का भाव-विहीन मूक परिपालन किया है। जायसी के पदमावत मे भी बारहमासा-वर्णन और नख-शिख वर्णन आए हैं, पर वे परिपाटी का पालनमात्र न होकर उस सामंजस्य की ओर भावुकतापूर्ण दृष्टि रखते हैं जिसका अभी जिक्र किया गया है। उनका नागमती के विरह का वर्णन, जहाँ, एक ओर, नागमती के वेदना से भरे हुए हृदय का अति द्रावक चित्र है, वहीं, दूसरी ओर वह शेष सृष्टि मे संवेदन-शक्ति और सहानुभूति को भी प्रतिष्ठित देखता है।

ऐसे स्थलों पर आई हुई प्रकृति में हमको उसके अंतर्लीन चिद्भाव के दर्शन होते हैं। इस प्रकृति के बाह्य दृश्य मानो मनुष्य के अंतर्जगत् के ही प्रतिबिम्ब हैं। इस दृष्टि से हम, यदि चाहें तो, जायसी के ऐसे वर्णनों मे 'छायावाद' की भी एक स्थूल परन्तु मनोहर झलक देख सकते हैं। 'स्थूल' इस लिए कि वह प्रायः हेतुकल्पना अथवा स्पष्ट-कथन के रूप में है। परन्तु साथ ही उसमें भावुकता की वह गहरी तह जमी रहती है जो आज कल की 'छायावादी' कहलाने वाली अधिकांश कविताओं में देखने को नहीं मिलती। विरहिणी नागमती अपनी अवस्था कह रही है—

बरसै मेह चुवहि नैनाहा। छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा।

पदमावती और नागमती में जब सौतिया-लड़ाई होती है तो रतनसेन समझाता है—

एक बार जेइ पिय मन बूझा। सो दुसरे सों काहे क जूझा।
धूप छाँह दूनौ एक रंगा। दूनौ मिले रहहिं एक संगा।

चित्तौड़गढ़ को लौटते समय समुद्र मे तूफान आने के कारण अपने पति से बिछुड़ी हुई पदमावती अपनी दशा का वर्णन करती है—

आवा पवन बिछोह कर, पाट परी बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि कै, लागौं केहि के डार।

यदि इन उदाहरणो में से इनके प्रसंगों को हटा लिया जाय तो क्या ये पद्य मनुष्य-जीवन के किन्हीं व्यापक सत्यों के प्रकृति-गत प्रतिबिंब नहीं दीखने लगेंगे ?

जायसी बड़े ही भावुक कवि थे। उनके रोम रोम मे जैसे भावुकता भरी हुई थी। साधारणतया यह देखने मे आएगा कि पदमावत की पंक्त पंक्ति में से जैसे भावुकता फूटी पड़ रही हो। जायसी ने जहाँ कहीं विरह का वर्णन किया है वहाँ तो उन्होंने मानो अपना हृदय ही निकाल कर रख दिया हो। नागमती का विरहवर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। यह सच है कि इसमें कहीं कहीं उन्होंने बहुत अधिक अत्युक्ति से काम लिया है; परन्तु उनकी अत्युक्तियाँ अधिकतर वेदना की गंभीरता दिखाने के लिए ही प्रयुक्त हुई हैं, कल्पना की सरपट-चाल दिखाने के लिए नहीं. यथा—

जरत बजागिनि करु पिउ छाहाँ। आइ बुझाउ, अँ
लागिउँ जरै जरै जस भारू। फिरि फिरि भूँजेसि, त

मानवीय दशाओं के साथ प्रकृति की प्रतिसंवेदिता तथा उनसे उस के प्रभावित होने के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(क) अस परजरा विरह कर गठा। मेघ साम भए धूम जो उठा।
दाधा राहु, केतु गा दाधा। सूरुज जरा, चाँद जरि आधा।
औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं।
जरै सो धरती ठावहि ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ।

(ख) फिरि फिरि रोव, कोइ नहि डोला। आधी राति बिहंगम बोला।
तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी। केहि दुख रैन न लावसि आँखी।

नागमती की विरहावस्था के वर्णन में भावुकता अपनी चरम कोटि को पहुँच गई है। दो चार उदाहरणों से ही पता लग सकता है, जैसे—नागमती विलाप करती है—

(क) यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन उड़ाव'
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव॥

(ख) पिय सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौरा, हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहि क धुवाँ हम लाग॥

(ग) नहि पावस ओहि देसरा, नहि हेवंत वसंत।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत॥

(घ) हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ ते ध्वनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥

(ङ) पदमावति सौं कहेहु, बिहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम।
तू घर घरनि भई पिउ-हरता। मोहिं तन दीन्हेसि जप औ बरता।
हमहुँ बियाही सँग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ जानु पर जीऊ।
अबहु मया करु, करु जिउ फेरा। मोहि जियाउ कंत देइ मेरा।
मोहिं भोग सौं काज न, बारी। सौंह दीठि कै चाहनहारी।

भावचित्रण के अतिरिक्त दृश्य-चित्रण भी जायसी का बड़ा सफल हुआ है। वह किसी दृश्य को नेत्रों के सामने उपस्थित करने के साथ ही साथ उस दृश्य से सम्बन्ध रखने वाले भावों की व्यंजना करने में भी समर्थ होता है। इसके भी दो चार उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) घन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुत लागि अकासा॥
तरिवर सबै मलयगिरि लाई। भई जग छाँह, रैन होइ आई॥
मलय-समीर सुहावनि छाहाँ। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ॥
ओही छाँह रैनि होइ आवै। हरियर सबै अकास देखावै॥
पथिक जो पहुँचै सहिकै घामू। दुख बिसरै, सुख होइ बिसरामू॥
—(शांत)

(ख) पुनि किलकिला समुद महँ आए। गा धीरज देखत डर खाए॥
भा किलकिल अस उठै हिलोरा। जनु आकास टूटै चहुँ ओरा॥
उठै लहरि परबत कै नाईं। फिरि आवै जोजन सौ ताईं॥
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा। सकल समुद जानहुँ भा ठाढ़ा॥
नीर होइ तर ऊपर सोई। माथे रंभ समुद जस होई॥
फिरत समुद जोजन सौ ताका। जैसे भँवै कोहाँर क चाका॥
—(अद्भुत)

(ग) लंका कर राकस अति कारा। आवै चला होइ अंधियारा॥
पाँच मूँड, दस बाहीं ताहीं। दहि भा साँव लंक जब दाही॥
धुआँ उठै मुख साँस सँघाता। निकसै आगि कहै जौ बाता॥
फेंकरे मूँड़ चँवर जनु लाए। निकसि दाँत मुँह बाहर आए॥
देह रीछ कै, रीछ डेराई। देखत दिस्टि धाइ जनु खाई॥
—(भयानक)

(घ) रथहि चढ़ी सब रूप-सोहाई। लेइ-बसंत मठ मँडप सिधाई ॥
नवल बसंत, नवल सब बारी। सेंदुर-बुक्का होइ धमारी ॥
खिनहिं चलहिं, खिन चाँचरी होई। नाच-कूद भूला सब कोई ॥
सेंदुर-खेह उड़ा अस, गगन भएउ सब रात।
राती सगरिउ धरती, राते बिरिछन्ह पात ॥
—(क्रियावर्णन)

(ङ) अस कै अधर अमी भरि राखे। अबहिं अछूत न काहू चाखे ॥
दसन चौक बैठे जनु हीरा। औ बिच रंग स्याम गंभीरा ॥
जस भादौं-निसि दामिनि दीसी। चमकि उठै तस बनी बतीसी ॥
जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
जहँ-जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ॥
—(सौन्दर्य-वर्णन)

कहीं कहीं वर्ण्य तथ्य का अतिरिक्त प्रभाव उत्पन्न करने के लिए वर्णन में वस्तु-व्यंग्य का भी आश्रय ले लिया गया है। अलाउद्दीन ने जिस समय आकर चित्तौड़ गढ़ को घेरा था उस समय वहाँ आम के पौधे लगाए थे। वे बड़े होकर वृक्ष भी होगए, परन्तु किला सर न हो सका—

आइ साह अमराव जो लाए। फरे झरे, पै गढ नहिं पाए।

वर्ण्य वस्तु का विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अलंकारों से हमेशा सहायता ली जाती है। जायसी में तो प्रभाव की ही विशेषता है, अतः इन्होंने अलंकारों का बहुत अधिक प्रयोग किया है और सब ही तरह के अलंकार काम में लिए हैं—विशेषतः सादृश्यमूलक—परन्तु उन सब की तह में अतिशयोक्ति का आधार

लगभग सदा ही रहता है। पर, दो-चार स्थानों को छोड़कर, जहाँ कि अलंकार का प्रयोग भावोत्कर्ष का साधक न बनकर भावग्लानि पैदा करने वाला हो गया है, जायसी का अलंकार-विधान सर्वत्र भावोद्दीपन का ही कारण बना है। जायसी के अलंकार काव्यकौतुक अथवा नकली चमत्कार के लिए नहीं होते—वे ज़्यादा पढ़े-लिखे विद्वान् ही नहीं थे—प्रत्युत वे भी कवि में लबालब भरी हुई भावुकता के ही स्वाभाविक अंग हैं। पीछे दिए गए उदाहरणों से इसका प्रमाण मिल जाएगा।

जायसी की भावुकता प्रेम अथवा शृंगार-रस की है। संभोग का वर्णन कम है, अधिकतर विप्रलंभ को ही प्रधानता दी गई है, जो स्वाभाविक है। सूफी-रहस्य-वादी मार्ग में 'प्रेम की पीर', विरह, का ही विशेष महत्त्व है।

प्रबंध-काव्य की दृष्टि से जायसी के संबंध-निर्वाह अथवा घटना-संगठन के बारे में हम पं० रामचन्द्र शुक्ल के साथ साथ यह कह सकते हैं—"जायसी का संबंध-निर्वाह अच्छा है। एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग की शृंखला बराबर लगी हुई है। कथा-प्रवाह खंडित नहीं है जैसा कि रामचन्द्रिका का है जो अभिनय के लिए चुने हुए फुटकर पद्यों का संग्रह सी जान पड़ती है। जायसी में विराम अवश्य हैं—जो कही कहीं अनावश्यक हैं—पर विवरण का लोप नही है जिससे प्रवाह खंडित होता है।"

प्रबंध की दृष्टि से केवल एक बात सबसे अधिक खटकने वाली है—देवपाल का प्रकरण और उसी के द्वारा, उसी में, कथा का उपसंहार होना। यदि पद्मावती के सती होने को ही 'पद्मावत' का 'कार्य' माना जाए, जैसा कि शुक्ल जी का

विचार है, तो भी उस 'कार्य' को संपन्न करने के लिए कथा के बिलकुल अन्त मे एक ऐसा नया प्रसंग ले आना, जिसका कि कहानी की किसी भी पूर्व-घटना से निःसार न होता हो, जबरदस्ती की ठूँसठाँस है। यह प्रसंग स्वाभाविक बन जाता यदि पहले कहीं, किसी सिलसिले से, रतनसेन और देवपाल के मनोमालिन्य का दिग्दर्शन करा दिया गया होता।

परन्तु हमारी दृष्टि मे तो पद्मावती का सती होना भी 'कार्य' नहीं है। रतनसेन कथा का नायक है और उसी के उद्देश्य से 'कार्य' का निर्धारण होना चाहिए। रतनसेन का उद्देश्य पद्मावती को प्राप्त करना है, अतः पद्मावती की प्राप्ति ही 'पद्मावत' का 'कार्य' माना जाना चाहिए। यह देखते हुए कथा का उपसंहार भी नायक द्वारा 'कार्य' की प्राप्ति के बाद हो जाना चाहिए था। अथवा यदि कवि का उद्देश्य कथा को दुःखांत बनाना ही था तो वह पद्मावती की प्राप्ति होते ही नायक-नायिका में से किसी का, या दोनों का, नाश दिखा सकता था और कहीं देवपाल, या तद्रूप किसी दूसरे पात्र या तत्व को इस 'कार्यत्वय' का माध्यम बना सकता था। परन्तु एक बार 'कार्य' की सिद्धि द्वारा 'फलागम' हो जाने पर देवपाल की कथा एक स्वतंत्र रूप में ही हमारे सामने आती है, मूल कथा के अंगस्वरूप में नही। वह एक भिन्न प्रबंध-काव्य का विषय बन सकती थी।

नायक के दृष्टिकोण से, पद्मावती के सती होने को 'कार्य' मानने मे दूसरी बाधा फिर यह होती है कि 'कार्य' के संपन्न हो जाने पर भी नायक के लिए 'फलागम' नहीं होता, क्योंकि नायक तो पहले ही मर चुका है। पुनः यदि 'फलागम' भी मान लिया

जाए तो हमें 'पदमावत' को सुखांत प्रबंध मानना पड़ेगा। परन्तु क्या 'पदमावत' सुखांत है?

प्रबंध-रचना में चरित्र-चित्रण का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु जायसी को हम इस दिशा में कचा पाते हैं। या कदाचित् जैसा कि पं० रामचन्द्र जी शुक्ल का विचार है, "जायसी का ध्यान स्वभाव-चित्रण की ओर वैसा न था"। जायसी के सब पात्र अपने अपने चरित्र में पूर्ण निर्दिष्ट, नपे-तुले, खराद से उतारे हुए हैं। वे जैसे हैं वैसे ही हैं—हर समय, हर घड़ी। जायसी को कहीं 'संचारियों' की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हमे किसी भी पात्र के चित्रण में दृष्टिगोचर नहीं होता जिसका कि अद्भुत वैभव हम तुलसीदास के प्रत्येक—गौण से गौण—पात्र मे देखते हैं। जायसी की यह त्रुटि किसी अंश में शायद सूफियों की 'प्रेम की पीर' के आदर्श के कारण हो।

परन्तु जो पात्र इस 'पीर' से पीड़ित नहीं हैं, उनमें भी तो हमें चित्रण नहीं मिलता—अलाउद्दीन, राघव चेतन, देवपाल; उसकी दूती, पार्वती, महादेव, गंधर्वसेन, समुद्र, लक्ष्मी। चित्रण की कला को प्राय: दुर्वृत्त पात्रों मे अधिक आसानी से सार्थकता प्राप्त हो सकती है, परन्तु जायसी ने उनमे भी कोई चित्रण-प्रवृत्ति नहीं दिखाई। एक प्रकार से हम देखते हैं कि चार पात्रों (रतनसेन, हीरामन, पदमावती और नागमती) के अतिरिक्त और किसी पात्र के संबंध में—एक राघवचेतन को छोडकर—जायसी का कोई दृष्टिकोण ही नहीं है—वे जैसे कथा के सिलसिले से फक़त आ भर ही गए हैं। राघवचेतन के विषय में जो कवि का कुछ दृष्टिकोण बन सका है सो केवल इसलिए कि वह वेद-विधि से विपरीत मार्ग पर

चलता था, उसने यक्षिणी सिद्ध की थी। वस्तुतः समस्त काव्य में एक राघवचेतन के—यक्षिणी आदि सिद्ध करने वालों के—प्रति ही हम जायसी की थोड़ी-सी विरोध-प्रवृत्ति देखते हैं। अन्यथा, समस्त मानवता—व्यक्ति, मत, पंथ आदि—के लिए उन की सहिष्णुता ही दृष्टिगोचर होती है। सहिष्णुता की इस प्रवृत्ति के कारण तुलना करने की प्रवृत्ति भी नहीं बन सकतीं, फिर दृष्टिकोण ही कहाँ से बनेंगे और दृष्टिकोणों के अभाव में चरित्र-चित्रण की प्रवृत्ति का न होना भी स्वाभाविक ही है।

जायसी ने अपने दोनों ग्रंथों की रचना अपने समय की बोल-चाल की अवधी भाषा में की है। उस समय की बोल-चाल की भाषा में होने के कारण इन रचनाओं मे शब्दों की दुरूहता आ गई है। परन्तु जायसी के कहने का ढंग इतना अकृत्रिम है कि उसमे हृदय की प्रेरणा हर कहीं उभरी हुई दीखती है, जिसके कारण शैली मे प्रवाह और माधुर्य पूर्ण रूप से भरा हुआ है और उनके काव्य को पढ़ने में आनन्द आता है।

जायसी में भी हमको बहुत-सी सूक्तियाँ मिलती हैं। अन्तस् में से ही वे निकली हैं, इसलिये वे हृदयस्पर्शिणी हैं—विशेषतः प्रेम-संबंधी उक्तियाँ। कुछ नमूने देखने चाहिएँ, जैसे—

(क) जेहि के हिए प्रेम-रंग जामा। का तेहि भूख नींद बिसरामा।

(ख) प्रेम-समुद महँ बाँधा बेरा। यह सब समुद बूंन्द जेहि केरा।

(ग) प्रेम कै आगि जरै जो कोई। दुख तेहि कर न(अँ?) बिरथा होई॥

(घ) जग महँ कठिन खड़ग कै धारा। तेहि ते अधिक बिरह कै झारा।

प्रेम-विषय से भिन्न भी कुछ उक्तियाँ मिलतीं हैं, यथा—

(क) ठाकुर नेहिक सूर भा कोई। कटक सूर पुनि आपुहि होई॥

(ख) मनुआ चाह दरब औ भोगू । पंथ भुलाई बिनासै जोगू ॥

(ग) माटी मोल न कछु लहै, औ माटी सब मोल ।
दिस्टि जो माटी सौं करै, माटी होइ अमोल ॥

(घ) बिरिध जो सीस डोलावे, सीस धुनै तेहि रीस ।
बूढ़ी आउ होहु तुम्ह, केइ यह दीन्ह असीस ॥

निष्कर्ष मे यह कह देना आवश्यक मालूम होता है कि जायसी का स्थान हमारे हिन्दी-साहित्य में बहुत ही ऊँचा है। सरलता, साधुता, सौजन्य, भावुकता आदि गुणो से तुलसीदास जी और सूरदास जी के बराबर ही इनको भी स्थान देना चाहिए। ऊपर की विवेचना से जायसी के अनेक कवि-गुणों तथा मानव-गुणों का आभास हमें अवश्य मिल गया है। उनके व्यक्तित्व की और भी विशेषताओं को जानने के लिए हमें पं० रामचन्द्र शुक्ल के ये शब्द पढ़ लेने चाहिएँ—"तत्त्व-दृष्टि-संपन्न होने के कारण जायसी के भाव अत्यन्त उदार थे। पर विधि-विरोध, विद्वानों की निन्दा, अनधिकार-चर्चा, समाज-विद्वेष इनकी उदारता के लक्षण नहीं थे। व्यक्तिगत साधना की उच्च भूमि पर पहुँच कर भी लोकरक्षा और लोकरंजन के प्रतिष्ठित आदर्शों को ये प्रेम और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। ... साधारण धर्म और विशेष धर्म दोनो के तत्त्व को ये समझते थे। लोक-मर्यादा के अनुसार जो सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं उनके उपहास और निन्दा द्वारा निम्नश्रेणी की जनता की ईर्ष्या और अहंकार-वृत्ति को तुष्ट करके यदि ये चाहते तो ये भी एक नया 'पंथ' खडा कर सकते थे। पर इनके हृदय में यह वासना न थी। पीरों, पैगंबरों, मुल्लाओं और पंडितों की निंदा करने के स्थान पर इन्होंने ग्रंथारंभ मे उनकी स्तुति की है और

अपने को "पंडितों" का पछलगा" कहा है।

"विधि पर इनकी पूरी आस्था थी। 'वेद पुराण' और 'कुरान' आदि को ये लोक-कल्याण-मार्ग प्रतिपादित करने वाले वचन मानते थे। ....।"

गोस्वामी तुलसीदास जी

तुलसीदास जी के जीवनवृत्त का परिचय कई प्राचीन आधारों से प्राप्त होता है, यथा—बाबा वेणीमाधवदास कृत 'गोसाईं-चरित' नाभादास जी का 'भक्तमाल', 'भक्तमाल' पर प्रियदास जी की टीका राजा प्रतापसिंह का 'भक्ति कल्पद्रुम', महाराज विश्वनाथसिंह का 'भक्तमाल', तथा महात्मा रघुवरदास जी का 'तुलसी-चरित'। 'तुलसी-चरित' के विषय मे केवल श्रीयुत इन्द्रदेवनारायण जी ने ज्येष्ठ १९६९ की मर्यादा पत्रिका मे कुछ सूचना दी थी। और कहीं से इस ग्रंथ का अभी तक कोई पता नहीं चला है।

'तुलसी-चरित' के अनुसार गोस्वामी जी मुरारिमिश्र के लड़के तुलाराम थे। तुलाराम के तीन विवाह हुए। तीसरी स्त्री की प्रेरणा से उन्हें वैराग्य हुआ।

परन्तु इस वर्णन की पुष्टि दूसरे आधारों से नही होती। इनके बारे में बहु-सम्मत विश्वास यह है कि ये राजापुर, जिला बाँदा, के रहने वाले थे; इनके माता-पिता का नाम हुलसी तथा आत्माराम था; तथा दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से इनका विवाह हुआ था। ये पराशर गोत्र के सरयूपारी ब्राह्मण थे।

इनके जन्मकाल के संबंध में भी कई मत हैं। १५५४, १५८३

और १५८६—ये तीन संवत् इनके जन्म के अलग अलग बताए जाते हैं। पहला संवत् श्री शिवलाल जी पाठक की 'मानस-मयंक' नामक रामचरितमानस की टीका के अनुसार है। परन्तु इनका मृत्यु-संवत् १६८० सर्वसम्मत है। इस प्रकार भिन्न भिन्न मतों के अनुसार इनकी आयु क्रमशः १२७, ६७ और ६१ वर्ष की ठहरती है। तुलसीदास जी अकबर और जहाँगीर के समकालीन थे।

इनके विषय में एक और भी कहावत प्रचलित है कि ये बारह मास गर्भ में रहे, और जब पैदा हुए तो पाँच वर्ष के बालक के समान मालूम होते थे तथा इनके मुँह में दाँत थे। पैदा होते ही इनके मुंह से 'राम' शब्द निकला। इन सब लक्षणों को देख कर इनके माता-पिता भयभीत हुए और उन्होंने इन्हें घर से निकाल दिया। पैदा होने के बाद ही इन्हे मुनियाँ नामक दासी को पालने के लिए सौंप दिया गया।

संवत् १५६१ में नरहरिदास जी इन्हे अपने साथ ले गये और इन्हे शिक्षा देने लगे। ये नरहरिदास जी ही इनके गुरु थ और इस बात की पुष्टि रामचरितमानस की पंक्ति "वन्दौ गुरुपद-कंज कृपा-सिंधु नर-रूप हरि" से भी की जाती है।

"गुरु के साथ काशी आने पर, वहाँ महात्मा शेषसनातन जी ने इन्हें देखा और वे इनकी तीक्ष्ण बुद्धि को देख कर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने इन्हे पन्द्रह वर्ष तक वेद, पुराण, दर्शन, काव्य आदि का अध्ययन कराया। तदुपरान्त तुलसीदास जी राजापुर लौट आए। वहाँ इनके मकान की बड़ी दुर्दशा हो रही थी और इनके वंश का कोई मनुष्य नहीं रह गया था। तुलसीदास जी मकान को ठीक करा कर वहीं रहने लगे।" इसके बाद ही इन्होंने अपना विवाह भी किया।

इनकी स्त्री बड़ी रूपवती थी और ये उस पर बहुत आसक्त थे। उस का वियोग पल भी न सह सकते। इस पर इनकी स्त्री ने एक बार इन्हें यों समझाया—

अस्थि-चरम-मय-देह मम, तामैं जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होत न तो भव भीति॥

यह बात तुलसीदासजी के हृदय मे ऐसी लगी कि तत्क्षण ही इन्हें वैराग्य हो गया और फ़िर पत्नी के बहुत कुछ मनाने पर भी वे गृहत्याग कर काशी चले गए।

कहा जाता है तुलसीदास जी को रामदर्शन हुए थे। अपने नित्य-कर्म का बचा हुआ जल ये एक वृक्ष मे डाल दिया करते थे जिस पर एक प्रेत रहता था। एक दिन वह संतुष्ट होकर इनके सामने प्रकट हो गया और कुछ माँगने को कहने लगा। जब इन्होंने रामचन्द्रजी के दर्शन माँगे तो उपाय बताया कि अमुक स्थान पर हनुमान् जी बूढ़े ब्राह्मण का वेष रख कर आते हैं और वे रामदर्शन करा सकते हैं। तुलसीदासजी ने उसके सकेत को ग्रहण कर हनुमान् जी के द्वारा रामदर्शन पाया।

कितनी ही चमत्कार की कथाएँ भी तुलसीदास जी के सम्बन्ध में कही जाती हैं। सम्राट् अकबर के द्वारा इनके क़ैद कर लिए जाने की कथा बड़ी प्रसिद्ध है। अकबर ने उन्हें बुलवाकर इन से चमत्कार दिखाने को कहा पर तुलसीदास जी ने उत्तर दिया कि मैं तो केवल राम का नाम जानता हूँ, कोई चमत्कार नही जानता। इस पर जब बादशाह ने इन्हें क़ैद मे डाल दिया तो तुलसीदास जी ने हनुमान् जी से विनय की। परिणाम यह हुआ कि असंख्य बन्दर न मालम कहाँ से आकर बादशाह

के कोट को विध्वस्त करने लगे और बादशाह ने आकर तुलसीदास जी से क्षमा याचना की और इन्हें मुक्त कर दिया।

अयोध्या और चित्रकूट को छोड़ कर तुलसीदास जी अधिकतर काशी में ही रहे जहाँ, इनके निवासस्थान मुख्यतः 'अस्सीघाट' और 'संकटमोचन' थे। कहा जाता है कि संकटमोचन में हनुमान जी की स्थापना तुलसीदास जी ने ही की थी।

विरक्त होकर गृहत्याग करने के पश्चात तुलसीदास जी ने भगवद्भजन में लीन होकर प्रभु की महिमा गाने में ही अपना शेष जीवन व्यतीत किया। इनके एक मात्र प्रभु अयोध्या के राजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र भगवान् रामचन्द्र थे। गोस्वामी की अधिकांश रचनाएँ इन्हीं के महिमा गान के लिए हुई हैं। वैसे गोस्वामी जी के बीस से भी अधिक के ग्रन्थ बताए जाते हैं, परन्तु वास्तव मे, उनमें से कई एक संदिग्ध हैं। तुलसीदासजी के निम्नलिखित चौदह ग्रन्थ अधिकतर माने जाते हैं—

१. रामचरितमानस, २. कवितावली; ३. विनयपत्रिका,
४ गीतावली, ५. कृष्णगीतावली, ६. दोहावली;
७. सतसई, ८ जानकीमंगल; ९. पार्वतीमंगल;
१०. राम-ललानहछू, ११. बरवै रामायण, १२. रामाज्ञा प्रश्न;
१३. हनुमान-बाहुक १४. वैराग्यसंदीपनी।

इनमे पहले सात बड़े ग्रन्थ हैं; शेष सात छोटे। रामचरितमानस सब से अधिक प्रसिद्ध है और घर घर में उसका प्रचार है। तदुपरांत क्रमशः विनय पत्रिका और कवितावली की ख्याति अधिक है।

ऐसा समझा जाता है कि तुलसीदास जी की काव्य-रचना

उनकी काफी अवस्था हो जाने के बाद आरम्भ हुई थी। काव्यक्षेत्र में पदार्पण करते करते उन्होंने बहुत कुछ संसार की प्रगति का अवश्य अनुभव कर लिया होगा और उनके विचारों, भावनाओं तथा सिद्धान्तों में प्रौढ़ता तथा स्थिरता आ गई होगी। उनका विस्तृत भ्रमण तथा तरह-तरह के विद्वानों और साधु-महात्माओं से मिलना-जुलना उनके अनुभव में और भी सहायक हुआ होगा। परन्तु अनुभव का उपयोग कवि के लिए तभी फलप्रद होता है जब कि उसके पास विशाल मानवता का हृदय हो, उस के हृदय में सहानुभूति का खुला भंडार हो। महात्मा तुलसीदास में यही विशेषता है कि विरक्त-साधु होते हुए भी वे स्वलीन ही नहीं हैं, उनकी पूर्ण दृष्टि संसार के दूषणों और अनुतापों पर भी पड़ती है। और फिर प्रत्येक परिस्थिति का, एक चतुर वैद्य की भाँति, निदान करते हुए वे हमारे सामने उस परिस्थिति के उपचार और परिचालन का आदर्श उपस्थित करते हैं। तुलसीदास जी शायद भारतवर्ष के सब से बड़े आध्यात्मिक वैद्य हैं, जिनकी चिकित्सा प्रणाली अमोघ है।

सबसे बड़े वैद्य वे इसलिए हैं कि वे रोगी के मनोभावों और रुचि को भी समझते हैं, और उसका लिहाज रखते हैं। इसलिए उनकी चिकित्सा उद्वेगकरी नहीं है, प्रत्युत एक प्रकार का चाव उत्पन्न करने वाली है। उनके आविर्भाव के इन ३०० वर्षों मे ही उनकी वाणी ने जितने अधिक प्राणियों को शान्ति और शीतलता प्रदान की है, जितने अधिक प्राणियों को उसने सुधारा या क्लेशमुक्त किया है, उतने अधिक प्राणियो को और कितने ही धर्मगुरुओं के झुंड के झुंड भी इतने थोड़े समय में समाश्वासन तक प्रदान न कर सके। उनका रामचरितमानस प्रत्येक-गृह का, कोमल प्रकाश

से युक्त, अक्षय स्नेह से भरा हुआ, कान्तिमान् दीपक है और उनकी विनयपत्रिका प्रत्येक भक्त तथा आर्तजन की मानो रसना सी बनी हुई है। प्रभाव और समादर में रामचरितमानस के सामने केवल एक ही अन्य भारतीय ग्रन्थ दिखाई देता है— श्रीमद्भागवद्गीता। परन्तु गीता में ज्ञान ही ज्ञान है, क्लिष्ट दर्शन है, और सुखी गृहस्थियों के वह काम की नहीं। रामचरितमानस, इसके विपरीत, गृहस्थियों और विरक्तों, सब के लिए समान संजीवनी है, जिसकी दो-चार मात्राएँ तो रास्ता चलते भी ली जा सकती हैं।

इसका एक मात्र कारण तुलसीदासजी की सगुण रामभक्ति है। उनके राम स्वंय गृहस्थ थे—माता-पिता के पुत्र थे, भाइयों के भाई, पत्नी के पति और पुत्रों के पिता थे। उनके भी कुछ मित्र थें, कुछ भक्त थे, कुछ शत्रु थे। वे राजपुत्र थे, राजा थे, वे हिंदू घरों के भीतर की और राजघरों के भीतर की कूटनीति का शिकार बने थे। बाहर एकाकी, असहाय—केवल अपने रक्षणीय अनुज और पत्नी के साथ—उन्होंने जंगल जंगल की खाक छानी, जहाँ अनेक नए, भिन्न भिन्न प्रवृत्ति वाले, व्यक्तियों से उनका संपर्क हुआ, जिसके कारण कहीं उन्हें हँसने को मिला और कहीं रोने को। जीवन के लिए, जिन्दा रहने के लिए—केवल आत्मरक्षा या पर-रक्षा के लिए—उन्हें जितना संघर्ष करना पड़ा है, क्या इतना किसी को करना पड़ता है—और क्या कोई इतने संघर्ष को सहन भी कर सकता है?

पर तुलसीदासजी के राम परब्रह्म भी हैं, जिनकी इच्छामात्र से समस्त दुःखजाल पल भर मे त्रिलोकी से काफूर हो सकते हैं। वे जगत् को धैर्य, सहनशीलता, कर्तव्यपालन और मर्यादा की

शिक्षा देने के लिए स्वयं इस जगज्जाल में आकर फँसते हैं, घोर संकटों में कातर भी होते हैं, परन्तु दृढ़ता-पूर्वक उन संकटों का सामना करते हैं और उन पर विजय पाते हैं। परन्तु वे यह भी जानते हैं कि साधारण मनुष्य इतना नहीं कर सकता, इसलिए वे जगह जगह पर अपनी शक्ति का परिचय देते हुए मनुष्य को आश्वासन भी देते हैं। जो रामचन्द्र सीता-हरण पर अथवा लक्ष्मण के शक्ति लगने पर प्राकृत जन की भाँति करुण क्रन्दन करते दिखाई देते हैं, वे वही राम तो हैं जो दूसरों को सान्त्वना देते हुए कह सकते हैं कि—

सकुच विहाइ माँगु नृप मोहीं, मोरे नहिं अदेय कछु तोहीं।

अथवा—

सम्मुख होहि जीव मोहि जबहीं, जनम कोटि अघ नासहि तबहीं
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं. मोर दरसु अमोघ जग माहीं।

जो जानने वाले हैं उनके लिए तो राम परब्रह्म ही हैं, परन्तु जन-साधारण के आश्वासन के लिए और उनमें मर्यादा स्थापित करने के लिए भगवान् मनुष्य बने हैं। मनुष्य रूप में आचरण करते हुए वे तो वाल्मीकि की चरण-रज सिर पर लेते हैं (और वाल्मीकि भी लोक-मर्यादानुसार उन्हें आशीर्वाद देते हैं), परन्तु जब भगवान् (अपने वनवास में) उनसे रहने के लिए स्थान माँगते हैं, तब अवश्य मुनि प्रेम-विह्वल हो कर असमंजस में पड़ जाते हैं और कहने लगते हैं—

स्रुति-सेतु-पालक राम तुम जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
जो सहस-सीस अहीस महि धरि लखन सचराचर धनी।
सुरकाज धरि नरराजतनु चल दलन खल-निसिचर अनी॥

राम स्वरूप तुम्हार, वचन-अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥
जग पेखन तुम देखन हारे, विधि-हरि-शंभु नचावन-हारे।
तेउ न जानहिं मरम तुह्मारा, और तुमहिं को जाननि हारा।
सो जानै जेहि देहु जनाई, जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।
तुम्हरी कृपा तुमहिं रघुनन्दन, जानहिं भगत भगत-उर-चन्दन।
चिदानन्दमय देह तुम्हारी, विगत-विकार जान-अधिकारी।

इसके बाद ही वे उनकी नर-लीला का मर्म भी वर्णन करते हैं—

नर-तनु धरेहु सन्त-सुर-काजा, कहहु करहु जस प्राकृत राजा।
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे, जड़ मोहहि बुध होहि सुखारे।
तुम जो कहहु करहु सब साचा, जस काछिय तस चाहिय नाचा।
पूछेहु मोहिं कि रहहुं कहं, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि, तुमहि दिखावौं ठाउँ।

यही संक्षेप मे तुलसीदास के रामरूप परब्रह्म का स्वरूप है। वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भी बड़े हैं, केवल 'विगत-विकार अधिकारी' ही उनको जान सकता है। अपनी नर-लीला में जैसा रूप उन्होंने धारण किया है उसके अनुसार ही वे कहते और करते हैं, जो बिलकुल उचित है। उनकी इस लीला को देख कर नासमझ लोग भ्रम मे पड़ जाते हैं, परन्तु समझदार मनुष्यो को सुख प्राप्त होता है। राम सर्वव्यापी हैं। तुलसीदास ने अपने भी मुँह से कहा है—

सिया-राम-मय सब जग जानी, करहु प्रनाम जोरि जुग पानी।

जिसमें भगवान् का सर्वव्यापकता के अतिरिक्त तुलसीदास की भावमयी तदात्मता भी लक्ष्य है। तदात्मता और भावविभोरता

तो यहाँ तक बढ़ी हुई है कि—

स्याम-गौर किमि कहौं बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

राम प्रणत-पाल हैं, दयालु हैं, शरणागत-रक्षक हैं। वे कहते हैं—

कोटि विप्र अघ लागइ जेही। आए सरन न त्यागउँ तेही।

उन्होंने विभीषण को शरण दी है और सुग्रीव के त्रास को दूर किया है। उनका हृदय अत्यन्त कोमल है। अकारण ही वे प्रसन्न हो जाते हैं और प्रसन्न होकर बड़े से बड़ा फल दे डालते हैं।

कोमल चित अति दीन-दयाला। कारण बिनु रघुबीर कृपाला।

प्रमाण यह है कि—

'गृध्र अधम खग आमिष-भोगी। गति तेहि दीन्ह जो याचत योगी।

उनको किसी से कुछ नहीं चाहिए; केवल प्रेम, सरलता और निष्कपटता से ही वे द्रवित हो जाते हैं। जिस समय बालि ने कहा—

सुनहु राम स्वामी सुभग, चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पातकी, अंतकाल गति तोरि॥

तो—सुनत राम अति कोमल बानी, बालि सीस परसेउ निज पानी।
अचल करौं तनु राखहु प्राना,' ....॥

परन्तु वही राम, जो इतने कोमल हैं, भक्तों और सन्तों के हित के लिए घोर दुष्ट संहारक भी हैं—

जो अपराध भगत कर करई, राम-रोस-पावक सो जरई।

तथा—निसिचर-हीन करौं मही, भुज उठाइ प्रन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आस्रमन्ह, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

उनका अवतार ही इसके लिए हुआ है और सारी रामायण ही इसका उदाहरण है। तुलसीदास जी सगुण भक्ति के साधक थे,

यद्यपि निर्गुण को भी इन्होंने अमान्य नहीं ठहराया है। परन्तु एकमात्र विशेषता इन्होंने सगुणोपासना को ही दी है। सगुणोपासना का आधार भक्ति है और निर्गुणोपासना का आधार ज्ञान। भक्ति मनुष्य की सहज भाव-परंपरा की पराकाष्ठारूपिणी अवस्था है और इसलिए सरल है। ज्ञान-मार्ग शुष्क है और उस पर स्थिर रहना बड़ी टेढ़ी खीर है। इसीलिए कहा गया है कि—

ज्ञान क पंथ कृपान कि धारा, परत खगेस होइ नहि बारा।

तथा—ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकाश॥
निर्गुण कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास।

परन्तु, वास्तव में, भक्ति और ज्ञान तथा सगुण और निर्गुण मे भेद कहाँ है? ऊपर के दोहे में जो 'अज्ञान' और 'तम' शब्द आए हैं वे उपमान न होकर केवल संसार में दिखाई देने वाले द्वित्वभाव के उदाहरण हैं। लौकिक न्याय में सत्तात्मक पदार्थ का बोध असत्तात्मक पदार्थ के द्वारा ही होता है। अंधकार के बिना प्रकाश का ज्ञान कैसे होगा? इसी प्रकार संसार मे जितने भी पदार्थ या गुण आदि हैं वे अपने विरोधी असत्तासूचक पदार्थों या गुणो द्वारा जाने जाते हैं। इसी प्रकार, आध्यात्मिक पक्ष में, ईश्वर और जीव का भी द्वित्व एक है। तुलसीदास जी ने बताया है कि—

ईश्वर-अंश जीव अविनासी, चेतन, अमल सहज सुखरासी।

इस द्वित्व में, दोनों तत्त्वों के गुण एक होते हुए भी, जो भेद दृष्टिगोचर होता है वह माया के कारण—'सो माया-बस भयउ गुसाईं, बँधेउ कीर मरकट की नाईं।' यह माया, जो गुणों की खान है और जिसके कारण पदार्थादिक में भी गुणों का आरोप हो जाता है, जीव को अपने वश में कर लेती है, परन्तु स्वयं वह ईश्वर के

वश में है—'ईस-वस्य माया गुन-खानी।' पदार्थों को नामरूपादि गुण दे कर यह द्वित्व का कारण बनती है, अन्यथा द्वित्व तो कहीं है ही नहीं—ईश्वर और जीव भी एक ही हैं—और यह द्वित्व-भाव हरिकृपा से दूर हो सकता है—'मृषा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया'। जब यह बात है तो निर्गुण या सगुण, अथवा ज्ञान और भक्ति मे भी भेद कहाँ रहा ?

ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कुछ भेदा। उभय हरहि भव-संभव खेदा।

इसी प्रकार द्वित्व की दृष्टि से, अथवा अद्वित्व की दृष्टि से, तुलसीदास जी के राम निर्गुण और सगुण दोनों हैं। इसीलिए तुलसीदास जी उनकी नर-लीला का वर्णन करते समय स्थान स्थान पर प्रायः उनके ईश्वर-रूप का स्मरण कराते चलते हैं; यथा—

लव-निमेख महँ भुवन-निकाया; रचइ जासु अनुसासन माया।
भगत हेतु सोइ दीनदयाला, चितवत चकित धनुष-मख-साला।
निगम नेति सिव ध्यान न पावा, माया-मृग पीछे सोई धावा।

लक्ष्मण जी के शक्ति लगने पर जब रामचन्द्र जी विलाप करते हैं तो तुलसीदास जी शिवजी के मुख से यों कहलाते हैं—

उमा अखंड एक रघुराई, नरगति भक्त-कृपालु दिखाई।

परन्तु जब 'माया बस परिछिन्न जड़ जीव' के लिए, 'माया-बस' होने के कारण ही, नामरूपात्मक आधारों को छोड़ना दुष्कर है, और जब कि सगुण और निर्गुण में भेद भी नहीं है, तो सगुण भक्ति ही श्रेष्ठ मानी जाने योग्य है।

परन्तु यह भक्ति अनन्य भक्ति होनी चाहिए, जैसी कि तुलसीदास जी की थी—

एक भरोसे एक बल, एक आस विस्वास ।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

उस भक्ति में परम दीनता होगी । एक स्वामी को छोडकर दूसरे का निहोरा उसमे नहीं होगा । चातक आदर्श है—

तीनि लोक तिहुँ काल जस, चातक ही के साथ ।
तुलसी जासु न दीनता, सुनी दूसरे नाथ ॥

तुलसीदास जी की भक्ति-भावना की गहनता को समझने के लिए और भी दो एक बातों पर दृष्टि डाली जा सकती है। राम उनके प्रभु हैं; इसलिए उनकी भक्ति या उपासना 'सेवक-सेव्य' भाव की है। 'सेवक-सेव्य' भाव की भक्ति के बिना भवसागर से छुटकारा नहीं मिल सकता। रामभक्ति-विहीन मनुष्य ज्ञानवान् होता हुआ भी पशु के समान है। संसार के जितने भी पूजनीय अथवा प्रिय सम्बन्ध हैं वे सब राम के ही नाते से हैं। वे कहते हैं—

(क) सेवक-सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय खगेश ।

(ख) रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निरवान ।
ज्ञानवन्त अपि सोपि नर, पशु बिनु पूँछ बिषान ॥

(ग) भगति-हीन गुन सुख सब ऐसे, लवन बिना बहु व्यजन जैसे ।

(घ) सुनि सीतापति सील सुभाउ ।
मोद न मन, तन पुलकि नेन जल, सो नर खेहर खाउ ।

(ङ) पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते, मानिय सकल राम के नाते ॥

पाँचवें उदाहरण की पुष्टि में यह भी कहा जा सकता है कि लौकिक सम्बन्धों की तो कौन कहे, ब्रह्मा-विष्णु-महेशादिक छोटे बड़े सब देवता भी तुलसीदास जी को इसीलिए माननीय हैं

कि वे या तो स्वयं राम-रत हैं, या राम से तुलसीदास जी की सिफ़ारिश करने में समर्थ हैं, अथवा फिर तुलसीदास जी को राम-भक्ति प्रदान कर सकते हैं। विनय-पत्रिका के प्रारंभिक पद इसी बात के प्रमाण हैं।

रामचन्द्र के बाद तुलसीदास जी को यदि और किसी का सब से अधिक सहारा है तो हनुमान् जी का। वह शायद इसलिए कि हनुमान् जी रामचन्द्र जी के स्वयं परम भक्त, विश्वासपात्र और कृपाभाजन हैं, और शायद इसलिए भी कि, जैसा कहा जाता है, तुलसीदास जी को रामजी के दर्शन भी इन्हीं के द्वारा हुए थे। रामचरितमानस के सुन्दरकांड के नायक एक प्रकार से हनुमान् जी ही कहे जा सकते हैं। कवितावली का भी एक कांड उन्हीं की वीरकीर्ति से भरा हुआ है तथा विनयपत्रिका के अपेक्षाकृत अधिकांश प्रारंभिक पद्यों मे हनुमान् जी का ही स्तोत्र है।

सीताजी तो जगदंबा और महामाया हैं ही, परन्तु लक्ष्मण जी भी विशेषतः स्तुत्य हैं—इसलिए नहीं कि वे शेषनाग के अवतार हैं, बल्कि कदाचित् इसलिए कि वे भी राम के कृपाभाजन हैं—रामचन्द्र जी का उनके ऊपर वात्सल्य-स्नेह है—और उन्हे रामचन्द्र जी का साहचर्य प्राप्त है। विनयपत्रिका मे वही तुलसीदासजी की प्रार्थना को रामचन्द्र जी के सामने पेश करते हैं, जिस पर रामचन्द्र जी की सारी सभा भी दाद देने लगती है, और रामचन्द्र जी प्रार्थना को स्वीकार कर लेते हैं—

मारुति मन, रुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलिकालहु नाथ नाम सों परतीति प्रीति किंकर की निवही है॥

सकल सभा सुनि लै उठी, जानी रीति रही है।
कृपा गरीबनिवाज की, देखत गरीब को साहब बाँह गही है॥
बिहँसि राम कह्यो सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत, बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ हाथ सही है॥

रामचरितमानस के कितने ही पात्र रामचन्द्र जी के भक्त हैं। ऋषि-मुनियो के अतिरिक्त प्राकृत (लोकव्यवहार लीन) पात्रों में लक्ष्मण, भरत, सुमित्रा, निषाद, शबरी, जटायु, सुग्रीव और विभीषण की गणना की जा सकती है। इन में भरत और लक्ष्मण की पात्रता तो स्वयंसिद्ध ही है। परन्तु निषाद, शबरी, जटायु, सुग्रीव और विभीषण केवल इसलिए सम्माननीय हैं कि, अपनी जाति अथवा चरित्र की कुछ न कुछ त्रुटियों के होते हुए भी, वे किसी न किसी अंश में भगवान् के सेवक या भक्त सिद्ध होते हैं। इन सब मे जिस जिसने भगवान् की जितनी या जैसी सेवा की है उसी के अनुसार उसका उल्लेख भी हुआ है।

सेवक-सेव्य की भक्ति के साथ विनय और दीनता का स्वाभाविक योग है। अपने प्रभु के साथ तो तुलसीदास के ये दोनों गुण अपनी चरमता को ही पहुँचे हुए हैं, फलतः उनमें भावुकता भी पराकोटि की है। सारी विनयपत्रिका ही इसका उदाहरण है। यहाँ केवल दो चार पद्य ही दिग्दर्शनमात्र के लिए उद्धृत किए जाते हैं—

(क) कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ॥
दीन सब अँगहीन छीन मलीन अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥

बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ॥
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ ।
तरै तुलसी भव तव नाथ-गुन-गन गाइ ॥

(ख) तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी ।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी ॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मो सो ।
मो समान आरत नहिं; आरतिहर तो सो ॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू, ठाकुर, हौं चेरो ।
तात मात सखा गुरु तू, सब बिधि हितु मेरो ॥
तोहि मोहि नाते अनेक, मानियै जो भावै ।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु, चरन-सरन पावै ॥

(ग) बलि जाउँ और कासों कहौं ?
सद्‌गुन-सिन्धु स्वामि सेवक-हितु कहुँ न कृपानिधि सो लहौं ।
जहँ जहँ लोभ लोल लालचवस निजहित चित चाहनि चहौं ।
तहँ तहँ तरनि तकत उलूक ज्यों भटकि कुतरु-कोटर गहौं ॥
काल सुभाव करम विचित्र फलदायक सुनि सिर धुनि रहौं ।
मोको तो सकल सदा एकहि रस दुसह दाह दारुन दहौं ॥
उचित अनाथ होइ दुखभाजन' भयो नाथ किंकर न हौं ।
अब रावरो कहाइ न बूझिबो सरनपाल, साँसति सहौं ॥
महाराज राजीवविलोचन, मगन-पाप-संताप हौं ।
तुलसी प्रभु जब तब जेहि तेहि बिधि राम निबाहे निबहौं ॥

(घ) कहे बिनु रह्यो न परत, कहे राम ! रस न रहत ।
तुमसे सुसाहिब की ओट जन खोटो खरो काल की करम की कुसाँसति सहत ॥

करत विचार सार पैयत न कहूँ कछु, सकल बड़ाई सब कहाँ ते लहत।
नाथ की महिमा सुनि समुझि अपनी ओर हेरि हारि कै हहरि हृदय दहत॥
सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु आप माय बाप तुही साचो तुलसी कहत।
मेरी तौ थोरी ही है सुधरैगी बिगरियो बलि, राम रावरी सौं रही रावरी चहत॥

(ङ) प्रन करि हौं हठि आजु तें राम द्वार पर्यो हौं।
'तू मेरो' यह बिनु कहे उठिहौं न जनम-भरि, प्रभु की सौं करि निबर्यो हौं॥
दै दै धक्का जमभट थके, टारे न टर्यो हौं।
उदर-दुसह सौंसति सही बहु बार जनमि जग, नरक निदरि निकर्यो हौं॥
हौं-मचलो लै छाँड़िहौं जेहि लागि अर्यो हौं।
तुम दयालु बनिहै दिये, बलि, बिलंबु न कीजिये जात ग्लानि गर्यो हौं॥
प्रगट कहत जो सकुचिये अपराध-भर्यो हौं।
तौ मन में अपनाइये तुलसीहि कृपा करि, कलि बिलोकि हहर्यौ हौं॥

(च) पवन-सुवन, रिपुदवन, भरतलाल, लखन, दीन की।
निज निज अवसर सुधि किये, बलि जाऊँ, दास-आस पूजिहै खास खीन की॥
राजद्वार भली सब कहै साधु समीचीन की।
सुकृत सुजस साहिब कृपा स्वारथ परमारथ गति भये गति बिहीन की॥
समय सँभारि सुधारिबी तुलसी मलीन की।
प्रीति-रीति समुझाइब नतिपाल, कृपालुहिं परिमिति पराधीन की॥

तुलसीदासजी जैसे महात्माओं में विनय चरित्र का अंग बन कर स्वाभाविक शील का रूप धारण कर लेती है। प्रभु के साथ उस विनय मे दीनता मिली रहती है, परन्तु अन्यत्र वह व्यापक सौजन्यमात्र का चिह्न है। रामायण के आरंभ में जब वह खलों की व्यंग्य-वन्दना करते हैं तो 'सद्भाव' से—'बहुरि बन्दि खलगण सति भाए; जे बिनु काज दाहिने बाँए।' कहीं कहीं पर वे ज़रा

कठोर शब्दों का प्रयोग भी करते दीख पड़ते हैं जैसे—

हम लखि, लखहिं हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै, राम-नाम जपु नीच॥

पर यहाँ पर 'नीच' शब्द औद्धत्य और धृष्टता के उद्देश्य का उतना व्यंजक नहीं है जितना कि सांसारिक ढकोसलेबाजी और मिथ्या विश्वासों पर होते रहने वाले उनके क्षोभ का।

तुलसीदासजी के समय में तरह तरह के मतमतान्तर और धर्मसंप्रदाय बहुत से थे और दूसरे का खंडन करने तथा आपस में लड़ने-झगड़ने का उनका रात-दिन का पेशा सा हो रहा था। इसी तरह वर्णाश्रम धर्म भी विशृंखल हो रहा था और राजा तथा प्रजा की भी व्यवस्था खराब थी। अपने समय की अवस्था का उन्होंने वर्णन किया है—

प्रभु के बचन बेद-बुध-सम्मत मम मूरति महिदेवमयी है।
तिन्हकी मति रिस, राग, मोह, मद, लोभ लालची लीलि लई है॥
राज समाज कुसाज, कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।
नीति-प्रनीति-प्रीति-परिमिति-पति हेतुवाद हठि हेरि हई है॥
आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पापरत, अपने अपने रंग रई है॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदनि साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसित खलई है॥

पुनः उत्तरकांड में कलिकाल का वर्णन जो वस्तुतः उन्हीं के समय का वर्णन है, इस प्रकार दिया है—

बरन-धरम नहिं आश्रम चारी, श्रुति-बिरोध-रत सब नर नारी।
द्विज श्रुतिबेचक, भूप प्रजासन, कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन।

मारग सोइ जाकहँ जो भावा, पंडित सोइ जो गाल बजावा।
मिथ्यारंभ दंभरत जोई, ताकहँ संत कहैं सब कोई।
सो सयान जो परधनहारी, जो करु दंभ सो बड़ आचारी।
निराचार जो स्रुति-पथ-त्यागी, कलिजुग सोइ ज्ञानी बैरागी।
असुभ वेष-भूषन धरें, भच्याभच्य जे खाहिं।
ते जोगी ते सिद्ध नर, पूजित कलिजुग माहिं॥
बाद सूद्र कर द्विजन्ह सन, हम तुमतें कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो विप्रबर, आँखि दिखावहिं डाटि॥
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा, स्वपच किरात कोल कलवारा।
नारि मुई गृह संपति नासी, मूँड़ मुँडाइ भये सन्यासी।
ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं, उभय लोक निज हाथ नसावहिं।
विप्र निरच्छर लोलुप कामी, निराचार सठ वृषली-स्वामी।
नरपीडित रोग न भोग कहीं, अभिमान विरोध अकारन ही।
लघु जीवन संवत पंच दसा, कल्पान्त न नास गुमान असा।
कलिकाल बिहाल किए मनुजा, नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा।
नहिं तोष विचार न सीतलता, सब जाति कुजाति भये मँगता।

ऐसी परिस्थितियों मे, जब कि समाज में सर्वत्र विशृंखलता फैली हुई थी, समाज की जर्जरित अवस्था को देखकर तुलसीदास जैसे लोकहित-चिन्तक महात्मा को यदि खेद हुआ हो तो क्या आश्चर्य है! ढकोसलों से भरी इस अवस्था की आलोचना करते समय कभी कभी उनकी वाणी में कुछ क्षोभ का दृष्टिगत हो जाना स्वाभाविक ही है। ऐसी मनोवृत्ति में यदि कहीं कोई कठोर शब्द निकल गया तो निकल गया, अन्यथा उन्होंने अधिकतर व्यंग्य से ही काम लिया है।

पर अधिकतर उनका काम संयोजक का है। उन्होंने सम्प्रदायों के विरोधों को दूर करने के लिए राम-नाम के एक सूत्र से सब को मिलाने की कोशिश की है। वैष्णवों और शैवों के विरोध को शान्त करने के ध्येय से वे अपने राम जी से कहलाते हैं—"शिवद्रोही मम दास कहावै, सो नर सपनेहुँ मोहि न भावै।" इसलिए हम देखते हैं कि, एकमात्र राम को ही अपना सर्वस्व मानते हुए भी, उन्होंने किसी दूसरे देवता का तिरस्कार नहीं किया और सबको रामभक्ति की प्राप्ति में सहायक मान कर उनकी भी वन्दना की। राजा और प्रजा की आदर्श स्थिति की कल्पना में वे एक ऐसे 'राम-राज्य' की अवतारणा करते हैं जिसमें—

> बैर न करहिं काहु सन कोई, राम-प्रताप विषमता खोई।
> बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद-पथ लोग।
> चलहि सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग॥
> सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं सुधरम निरत श्रुति रीती।
> अल्पमृत्यु नहि कवनिहुँ पीरा, सब सुन्दर सब निरुज सरीरा।
> नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहि कोउ अबुध न लच्छनहीना।
> सब निर्दंभ धर्मरत धरनी, नर अरु नारि चतुर सुभकरनी।
> सब गुनज्ञ सब पंडित ज्ञानी, सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी।
> सब उदार सब पर उपकारी, द्विज सेवक सब नर अरु नारी।
> एक-नारि-व्रत-रत सब झारी, ते मन-बच-क्रम पति-हितकारी।
> दंड जतिन कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य-समाज।
> जितहु मनहि अस सुनिय जहँ, रामचन्द्र के राज॥

इतना ही नहीं, रामचन्द्र के राज्य में पशु-पक्षी तक निर्भय थे और प्रेम से रहते थे। राजा का कर्तव्य है, पुरजन-बटोही आदि

के लिए सड़कों पर फलों के वृक्ष लगवाना, जगह जगह बाग़-बग़ीचे लगवाना, जिससे उन्हें विश्रान्ति मिले और भूख लगने पर स्वाभाविक आहार भी मिल सके। राजा को चाहिए कि बस्तियों की सफाई अच्छी रक्खे, जिससे निर्मल और शुद्ध वायु का प्रवाह हो, कृषि को उन्नतिशाली बनाए, गौओं की समृद्धि करे जिससे घी-दूध की कमी न हो और प्रजा पुष्ट हो, तथा जल की स्वच्छता आदि का प्रबन्ध करे, आजकल की भाँति नदियों को गंदगी बहाने (drainage) का साधन न बनाए। रामराज्य इन बातों के लिए भी आदर्श है—

> फूलहि फलहि सदा तरु कानन, रहहिं एक सँग गज पंचानन।
> सीतल सुरभि पवन बह मंदा, गुंजत अलि लै चलि मकरंदा।
> लता विटप माँगे फल द्रवहीं, मनभावते धेनु पय स्रवहीं।
> ससि संपन्न सदा रह धरनी ।
> सरिता सकलों बहै बर बारी, सीतल अमल स्वादु सुखकारी।

लोकहित-चिन्तना के उनके इस उद्देश्य में उनके क्षोभ का यत्र-तत्र थोड़ा-बहुत प्रकाश उनका स्वभाव-दोष कदापि नहीं कहा जा सकता। वह केवल उनकी लगन और निष्कपटता की ही एक छाया है। और यदि उनकी सामाजिक आलोचनाओं में किसी को फटकार दिखाई देती ही हो, तो भी क्या हुआ? आजकल के स्वार्थप्रेरित कितने ही कपट-मुनि, जो 'सुधारक', 'धर्मोपदेशक', या 'देशभक्त' होने के सार्टिफिकटों से अपने को चालू करते है, जब प्लैटफार्म पर खड़े होकर बहुत सी खरी-खोटी हमको सुना देते हैं, और हम लोग आसानी से सुन लेते हैं, तो इस निस्पृह, गरीब, सच्चे लोक-सेवी महामुनि के ही एकाध शब्द

का कोई बुरा क्यों माने ?

गोस्वामी जी ने जो कुछ भी कहा है वह 'स्वान्तः सुखाय' कहा है, परन्तु 'स्वान्तः सुखाय' होने पर भी उनकी वाणी व्यापक उद्देश्य से भरी हुई है, यह देख चुके हैं। 'स्वान्तः सुखाय' होने के कारण ही उनकी रचना मे सचाई है। सचाई और निष्कपटता व्यक्ति को व्यक्तित्व देती हैं, वे किसी भी उद्देश्य और कर्म को महान् बना सकती हैं। अतः यदि एक ओर हम आसानी से उनसे बड़ा दूसरा समाजोपकारक और जन-हितैषी नहीं ढूँढ पाते तो दूसरी ओर, वाणी की दृष्टि से, उनसे बड़ा दूसरा कहने वाला भी हमको नहीं मिलता। बेशक, वे हमारी हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं और संसार की भाषाओं के सबसे बड़े कवियों मे से एक हैं।

कविता की पहली और सबसे बड़ी कसौटी रसात्मकता अथवा, परिभाषा-मुक्त भाषा मे, भावुकता है। किसी वस्तु की भावुकता का अभिप्राय है उस वस्तु का हृदयस्पर्शिणी होना। सचाई और निष्कपटता भावुकता के सबसे बड़े आधार हैं। तुलसीदास जी की विचारधारा के मोटे-मोटे तत्त्वों का साधारण परिचय पाकर हम यह देख चुके हैं कि उनके कहने के ढंग में, कोरा कथनमात्र ही न हो कर, बहुत कुछ प्रभाव भी है। विनय-पत्रिका के उद्धरण उनके दैन्य भाव की हृदयस्पर्शिता के द्योतक हैं। दैन्यभाव की भावुकता का उत्कर्ष विनयपत्रिका में ही सबसे अधिक हुआ है। उसका नाम ही विनयपत्रिका है। दो एक उदाहरण इस कथन को और अधिक स्पष्ट कर देंगे, यथा—

(क) कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक, धरिहौ नाथ सीस मेरे।
जेहि कर अभय किए जन आरत, बारक बिबस नाम टेरे॥

(ख) दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जासों दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ॥

× × × × ×

तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
सुनि सुभाव सील सुजस जाचन जन आयो॥

× × × × ×

तू गरीब को नेवाज, हौं गरीब, तेरो।
बारक कहिये कृपालु, तुलसिदास मेरो॥

(ग) खीजिये लायक करतब कोटि कोटि कटु।
रीझिये लायक तुलसी की निलज्जई॥

(घ) ऐसी तोहि न बूझिये हनुमान हठीले।
साहब कहूँ न राम से तो से न वसीले॥
तेरे देखत सिंह के सिसु मेंढक लीले।
जानत हौं कलि तेरेउ मनु गुन-गन कीले॥
हाँक सुनत दसकंध के भये बंधन ढीले।
सो बल गयो, किधौं भये गर्व-गहीले॥
सेवक को परदा फटे तुम समरथ सीले।
अधिक आपु ते आपुनो सुनि मान सही ले॥
सांसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुहीले।
तिहूँ काल तिनको भलो जे राम-रँगीले॥

जहाँ प्रभु की महिमा, उनकी भक्तवत्सलता अथवा उनके समक्ष किसी आर्त की आर्तता का प्रसंग आ जाता है वहाँ तो

तुलसीदासजी की भावुकता बहुत ही अधिक बढ़ जाती है। बालि के शब्द 'प्रभु अजहूँ मैं पातकी, अन्तकाल गति तोरि' हृदय में कितने गहरे घुसने वाले हैं। इसी प्रकार वनगमन के समय जब रामचन्द्र जी भरत को घर रहने की आज्ञा देते हैं तो भरत का उत्तर कितना मर्मस्पर्शी हो जाता है—

अवसि हौं आयसु पाइ रहौंगो।
जनमि कैकयी-कोखि कृपानिधि, क्यों कछु चपरि कहौंगो॥
'भरत, भूप, सिय राम लखन बन,' सुनि आनन्द सहौंगो।
पुर परिजन अवलोकि, मातु सब सुख सन्तोष लहौंगो॥
प्रभु जानत जेहि भाँति अवधि लौं वचन पालि निबहौंगो।
आगे की बिनती 'तुलसी' तब, जब फिरि चरन गहौंगो॥

—(गीतावली)

हृदय की वेदना बताई नहीं जाती है, वह केवल थोड़ी-बहुत दिखाई जा सकती है। भरत जी की स्वीकृति ने वेदना को इतना दिखाया है कि वह नंगी हो उठी है। उनका उच्चरित एक एक शब्द लम्बी अश्रुधार बन गया हो।

राम के चले जाने पर कौशल्या कहती हैं—

माई री मोहि कोउ न समुझावै।
राम-गवन साँचो किधौं सपनो, मन परतीत न आवै।
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम लखन अरु सीता॥

सरलता, अबोधता, में भावुकता गुहराज के उत्तर में देखी जा सकती है—

एहि घाट ते थोरिक दूर अहै कटि लौं जल थाह देखाइहौं जू।
परसे पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू॥

तुलसी अवलंब न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।
बरु मारिएँ मोहिं, विना पग धोएँ हौं नाथ न नाव चढाइहौं जू॥
रावरे दोष न पायन को, पगधूरि कौ भूरि प्रभाउ महा है।
पाहन तें बन-बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है।
पावन पायँ पखारि के नाव चढाइहौं, आयसु होत कहा है।
तुलसी सुनि केवट के बर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥

विभावानुभाव आदि से पूर्णपुष्ट रसात्मकता के आस्वादन के लिए पूरा रामचरितमानस पढ़ना चाहिए। रामचरितमानस एक प्रबन्ध काव्य है, और महाकाव्य है। एकाध दृष्टि से यह खंडशः अनेक खंड-काव्यों का समुदाय भी कहा जा सकता है। प्रबन्ध काव्य में प्रसंग आदि के सहारे विभावों, अनुभावो और संचारियों की अच्छी योजना बन पडती है। महाकाव्य के नाते इस ग्रन्थ में सर्वांगीण जीवन का चित्र है जिसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म अवस्थाएँ तक कवि की पैनी दृष्टि से नहीं बच पाई हैं। 'पैनी दृष्टि' का अभिप्राय जीवन के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से है, जिसमें मनोविज्ञान के ज्ञान की भी आवश्यकता पडती है। मनोविज्ञान चरित्र-चित्रण का सहायक है। भावुकता, परिस्थिति और चरित्र के सम्यक् सामंजस्य से पैदा होती है। रामचरितमानस में इस तरह के प्रसंग के प्रसंग भरे पड़े हैं, जिनमें परिस्थिति और चरित्र मिलकर पाठक के हृदय को खूब अच्छी तरह जगाते ही नहीं, सचेष्ट करते हैं। करुण की दृष्टि से राम-वन-गमन, राम-भरत-मिलाप, सीताहरण और लक्ष्मण को शक्ति लगना बड़े ऊँचे स्थल हैं। रौद्र, वीर और भयानक लंकाकांड में खूब देखने को मिलेंगे। सुन्दरकांड में अद्भुत है, यद्यपि अद्भुत लंकाकांड में भी अच्छा

दृष्टि-गोचर होता है। नारदमोह और लक्ष्मण-परशुराम संवाद में हास्य के दर्शन होते हैं। भरत की तपश्चर्या में (राम के स्थान में राज्य करने के लिए मजबूर होना उनके लिए तपस्या ही थी) —शान्त के लक्षण मिलते हैं। हाँ, संभोग शृंगार अपने पूर्ण रूप मे नहीं मिल सकेगा, क्योंकि तुलसीदास राम के सेवक थे और पूर्ण मर्यादावादी थे। शृंगार के आलंबन और संचारियों की कुछ मनोहर झलक विवाह से पूर्व बाग मे, राम और सीता के मिलने में दिखाई देती है। ये केवल कुछ मोटे-मोटे उदाहरण हैं, अन्यथा रामचरितमानस में तो पद-पद पर भावुकता और रसात्मकता भरी पड़ी है। तुलसीदास जी की सहृदयता के कारण सर्वत्र ही उनको ऐसी परिस्थितियाँ मिल जाती हैं, जहाँ उनके ढाले हुए चरित्र अपनी विशेषताओं के कारण उन परिस्थितियों में जान डाल देते हैं। राम और वाल्मीकि की भेंट में कोई असाधारणता नहीं है, राम उनसे रहने को स्थान माँगते हैं और वे राम को स्थान देते हैं। परन्तु देने से पहले यह कहे बिना उनसे नहीं रहा जाता कि —

पूछेहु मोहि कि रहहुँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि, तुमहिं दिखावौं ठाउँ॥

इस प्रकार की भावुकता चरित्र की विशेषता से उत्पन्न होती है। चरित्र की विशेषता का निर्णय करना और उसे बराबर समझते रह कर उसका सफल निर्वाह करना तुलसीदास जी खूब जानते हैं। राम, लक्ष्मण, भरत, सीता, हनुमान् जैसे चरित्र तो आदर्श चरित्र हैं और अपने आचरण में सुनिश्चित हैं। परन्तु विशेष कठिनता होती है उन चरित्रों के आचरण-निर्वाह मे जो प्रवृत्ति-परवशता में

कुपथगामी बने होते हैं अथवा जो कदर्य होते हुए भी ऊँची आकांक्षाओं से मुक्त नहीं होते। बालि और सुग्रीव के चरित्रों में किन्हीं अंशों मे हम ये बातें पाते हैं। जो बालि, पापी व्यभिचारी, अत्याचारी अहंकारी, और साथ ही अतुल बलशाली है और जो, अपनी पत्नी के यह समझाने पर भी कि सुग्रीव के सहायक रामचन्द्र हैं, सुग्रीव को तृण के समान समझता हुआ उससे लड़ने जाता है वही मरते समय इतना विनम्र हो जाता है कि "सुनहु राम स्वामी सुभग" आदि कहता हुआ जीवनदान से अधिक श्रेष्ठ उस मृत्यु को समझता है। परन्तु तुलसीदास जी ने चरित्र की विषमता न आने देने के लिए उसके मुख से पहले ही कहला दिया है—

सुनु भीरु प्रिय, समदरसी रघुनाथ।
जो कदापि मोहिं मारि है, तो पुनि होहुँ सनाथ।

उसे आशा नहीं कि रघुनाथ जी उसे मारेंगे। यह उसका कुतर्क है, परन्तु फिर भी वह अपने दूषणों को नहीं देख पाता, और ऐसा समझना भी उसके चरित्र का ही एक अंग है। उसके ऐसा कहने से यह भी व्यंग्यध्वनि निकलती है कि यदि रामचन्द्रजी ने उसे मार दिया तो शायद वे समदर्शी नहीं रहेंगे। मरणशील होने पर भी उस का यह भाव रहता है और वह प्रभु से इस संबंध में तर्क करता है—

मैं वैरी सुग्रीव पियारा। कारण कवन नाथ मोहि मारा।

परन्तु यह सब होने पर भी भगवान् के हाथ से मारे जाने से उसका कल्याण है, ऐसी उसकी धारणा है और वह मर कर जीना नहीं चाहता। यही उसका चरित्र है, लेकिन यदि उपर्युक्त दोहे में से तीसरा और चौथा चरण निकाल दिया जाय तो बालि का सारा

चरित्र एक भोंडा सा मखौल रह जायगा।

दीर्घकालिक चरित्रों अथवा परिस्थितियों के अतिरिक्त क्षणिक अवस्थाओं में भी तुलसीदास जी की सूक्ष्म दृष्टि नहीं चूकती। रामचन्द्र जी लक्ष्मण और सीता सहित वन को जाते हुए किसी गाँव को पार कर रहे हैं। ग्राम-वधुएँ उन्हें देखने के लिए खड़ी हो जाती हैं। उसका वर्णन है—

सीस जटा उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल तिरीछी सी भौंहे।
तून सरासन बान धरे, तुलसी बन मारग में सुठि सोहे॥
सादर बारहिं बार सुभाय, चितै तुम त्यों हमरो मन मोहै?
पूछतीं ग्राम-बधू सिय सों कहो साँवरे से सखि, रावरे को है?
सुनि सुंदर बैन सुधारस साने, सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दे सैन तिन्हें, समुझाइ कछू मुसकाइ चली।
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै, अवलोकति लोचन-लाहु अली।
अनुराग-तडाग में भानु उदै, बिगसी मनो मंजुल कंजकली।

जितनी कुशलता तुलसीदास जी में मानसिक व्यापारों को परखने और चित्रित करने की है उतनी ही बाह्य दृश्यों को चित्रित करने की भी है। दृश्य-चित्रण के कई अच्छे उदाहरण कविता-वली में हैं। हनुमान जी ने लंका में आग लगादी है। उस समय—

'लागि लागि आगि', भागि भागि चले जहाँ तहाँ।
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूमधुंध-अंध,
कहैं बारे बूढ़े 'बारि बारि' बार बार हीं॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारि भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।

नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
"तात तात, तौंसियत, झौंसियत, झारहीं ॥

उपलक्षण द्वारा चित्रण का इसी स्थल से यह उदाहरण दिया जा सकता है—

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौं,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं व्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि सी उघारी है॥
तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी-कलाप,
कैधौं चली मेरु ते कृसानु-सरि भारी है।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
'कानन उजार्यो, अब नगर पजारी है' ॥

रामायण के अरण्य-कांड में तालाब का वर्णन इस प्रकार है—

बिकसे सरसिज नाना रंगा, मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा।
बोलत जलकुक्कुट कलहंसा, प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा।
चक्रवाक बक खग समुदाई, देखत बनै बरनि नहिं जाई।
सुन्दर खगगन गिरा सोहाई, जात पथिक जनु लेत बुलाई।
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये, चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाये।
चम्पक बकुल कदंब तमाला, पाटल पनस पलास रसाला।
नवपल्लव कुसुमित तरु नाना, चंचरीक पटली कर गाना।
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ, संतत बहै मनोहर बाऊ।
कुहू-कुहू कोकिल ध्वनि करहीं, सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं।
फल-भर नम्र बिटप सब, रहे भूमि नियराइ।
पर-उपकारी पुरुष जिमि, नवहिं सुसंपति पाइ ॥

गीतावली में चित्रकूट पर रामचन्द्र जी के निवास का वर्णन है—

फटिकसिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललित लता-जाल हरति छबि बितान की।
मन्दाकिनि तटनि तीर, मंजुल मृग बिहग भीर,
धीर मुनि-गिरा गभीर सामगान की।
मधुकर पिक बरहि मुखर, सुन्दर गिरि निर्झर झर,
जल-कन घन छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, सन्तत बहै त्रिबिध बाउ,
जनु बिहार बाटिका नृप पंचबान की।
बिरचित तहँ पर्नसाल...........।

छवि-वर्णन के उदाहरण में निम्न पंक्तियाँ पेश की जा सकती हैं—

मुनिपट कटिन्ह कसे तूनीरा, सोहत करकमलन धनु तीरा।
जटा-मुकुट सीसन्हि सुभग, उर भुज नैन बिसाल।
सरद-पर्ब-बिधु-बदन बर, लसत स्वेद कन जाल॥

अथवा गीतावली से—

तन मृदु मंजुल मेचकताई। झलकति बाल-बिभूषन झाँई॥
अधर पानि पद लोहित लोने। सर-सिंगार भव सारग-सोने॥
किलकत निरखि बिलोल खिलौना। मनहुँ बिनोद लरत छबि छौना॥

काव्य के अधिकांश गुणों का पूर्णोत्कर्ष तो, वस्तुतः, प्रसंग-क्रम में विकसित होने के कारण प्रबंध-काव्य में ही अच्छा प्राप्त होता है। अब तक जितनी बातों के उदाहरण ऊपर दिए गए हैं उनके, और उनसे बहुत अधिक के, अगणित उदाहरण, यदि कोई चाहे तो, अकेले रामचरितमानस में से निकालकर इकट्ठे कर सकता है। तुलसीदास जी ने अपनी समस्त कविता (कृष्णगीता-

वली जैसी कुछ छोटी रचनाओं को छोड़कर) रामचन्द्र जी के विषय में की है और दूसरे ग्रंथों में किए गए उनके बहुत से वर्णन रामचरितमानस के वर्णनों की पुनरावृत्तिमात्र हैं। इसलिए रामचरितमानस में वे प्रसंगादिक से विकसित होकर अपने शृंखलाबद्ध रूप में मिलते हैं, जो बात कि कवितावली आदि संग्रह-ग्रंथों मे स्वाभाविकतया नहीं हो सकती। और फिर, तुलसीदास जी की प्रबंधरचना-कौशल भी असाधारण था।

प्रबन्ध-रचना के कौशल मे यह वाञ्छनीय है कि कथा का सिल सिला चलता रहे, कहीं टूटे नहीं, उसमे शिथिलता न आने पावे, उत्तरगामी प्रसंगों का पूर्ववर्ती प्रसंगों से स्वाभाविक निस्सार होता हो; तथा उसका प्रसार क्रमशः सारस्थलों की ओर होता चले। इसका अर्थ यही होगा कि अनावश्यक अथवा असमर्थ किसी प्रकार के भी प्रसंग प्रबन्ध के घटना-विन्यास में स्थान नहीं पा सकेंगे। इसी तरह से नीरस स्थलो का भी निराकरण किया जाएगा। रामचरितमानस का प्रबंध बड़ा जटिल है। रामचरित की कथा पहले तो काकभुशुंडि ने गरुड़ से कहीं, वही कथा शिव जी ने पार्वती से दुहराई और बाद में शिव-पार्वती की बातचीत को याज्ञवल्क्य ने भारद्वाज से कहा। तुलसीदास जी याज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद का वर्णन कर रहे हैं। अर्थात् वास्तव में सारी रामायण अपने मूल में काकभुशुंडि द्वारा किया हुआ एक वस्तु-वर्णन है और तुलसीदास जी उनकी बातचीत के तीसरे रिपोर्टर या संवाददाता हैं। बातचीत के सिलसिले में बहुत से अनावश्यक प्रसंग और फालतू बातें आ ही जाती हैं और प्रबंध-काव्य के पढ़ने वालों के लिए वे अरुचिकर भी हो सकती हैं। रामचरितमानस-

रूप याज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद में ऐसे स्थलों की कमी नहीं है। प्रथम तो इसमें बहुत सी प्रासंगिक उपकथाएँ आ गई हैं जिन्हें कहीं कहीं काफी विस्तार दे दिया गया है, फिर कहीं-कहीं अप्रासंगिक कथाएँ भी हैं जो, यदि यह कथा याज्ञवल्क्य-भारद्वाज के संवाद के रूप मे न होती तो, आ ही नहीं सकती थीं, जैसे सती-मोह, कामदहन आदि। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं वर्णन भी इतने 'तूलतवील' बन गए हैं कि वे कथा-प्रसार में रुकावट डालने में समर्थ हो सकते हैं। परन्तु तुलसीदास जी का यही सबसे बड़ा रचना-पाटव है, कि ऐसे स्थलों को उन्होंने कहीं अरुचिकर नहीं होने दिया है। इसके विपरीत, हम तो देखते हैं कि अपने लोक-मर्यादा आदि के उद्देश्य से अप्रासंगिक कथाओं का समावेश भी उनको अभिप्रेत था; और उद्देश्यसिद्धि के हेतु अप्रासंगिक को प्रासंगिक बनाने के लिए ही उन्होंने कई कई महानुभावो के वार्ताहर का जामा पहना है। फिर, वे एक सहृदय और भावुक वार्ताहर थे जो 'राम' का 'र' सुनते ही अपने को भावों में खो बैठे। इसीलिए जहाँ अति लंबे वर्णन हैं, जिनमे बहुत-से दूसरे कवि अपनी कारीगरी का फ़जीता करा बैठते, उन्होंने अपने अतुल कल्पना-वैभव और भावसारस्य से सजीवता भर दी है। उन्होने उनको बोलते हुए चित्र बना दिया है। छोटे से उदाहरण के तौर पर हम किष्किन्धाकांड के वर्षागमन के दृश्य को देख सकते हैं। रामचन्द्र कह रहे हैं—

घन घमंड नभ गरजत घोरा, प्रिया-हीन डरपत मन मोरा।
दामिनि दमक रही घन माहीं, खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।
बरसहिं जलद भूमि नियराए, जथा नवहिं बुध विद्या पाए।

बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के वचन संत सहँ जैसे ।
क्षुद्र नदी भरि चली तोराई, जस थोरेहु धन खल बौराई ।
भूमि परत भा डाबर पानी, जिमि जीवहि माया लपटानी ।
सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा, जिमि सदगुन सज्जन पहँ आवा ।

यहाँ, जहाँ एक ओर वर्षा की वास्तविक प्रतिमा खड़ी कर दी गई है—जिसमें दामिनी का दमकना, बूँदों का पहाड़ों पर आघात करते हुए (टप्-टप् ध्वनि के साथ) गिरना, बादलों का (पहाड के सान्निध्य से) पृथ्वी पर लटक आना, छोटी नदियों का भर कर उन्मत्त हो उठना आदि प्रत्यक्ष आँखों के सामने आ उपस्थित होते हैं—वहीं दूसरी ओर एक एक पदार्थ की चेष्टायुक्त सप्राणता में ऐसा दीखता है कि प्रत्येक पदार्थ वाणीयुक्त हो एक एक सिद्धान्त हम से कहता जा रहा है। इसका प्रमाण यही है कि आधी आधी चौपाइयों में सिद्धान्त-कथन होते हुए भी दृश्य की प्रत्यक्षता को कोई हानि नहीं पहुँचती। यदि यही दृश्य, बिना सहानुभूति और सत्यता के, केशवदास जी की कृत्रिम शैली में उपस्थित किया जाता तो इसके सिद्धान्तवाक्य, निरर्थक ही नहीं, अनर्थक हो उठते। इसी प्रकार जिस समय भगवान् विलाप करते हुए पूछते हैं—'हे खग मृग हे मधुकर-श्रेनी, कहुँ देखी सीता मृगनैनी' तो हमको खग, मृग और मधुकर श्रेणी निर्विघ्नभाव से भगवान् के सामने मुँह लटका कर खड़े या बैठे हुए नहीं दीख पड़ते क्या ?

इसके अतिरिक्त रामचरितमानस मे अद्भुत तत्त्व या 'रोमांस' (Romance) की इतनी प्रचुरता है कि वह निरर्थकता या अतिविस्तार को भी सार्थक, रुचिकर, कुतूहलवर्धक बना देता है।

और इन सब बातो के लिए रामभक्ति जैसे एक जबरदस्त गोंद का काम करती है। अन्यथा किसी दूसरे कवि के हाथों में पड़कर नारदमोह या प्रतापभानु या श्रवण की उपकथाएँ बिलकुल निरनुरंजक बन जाती, या फिर, उसे ऐसे प्रसंगों का परम संक्षेप के साथ संकेत-मात्र ही करना पडता। फिर, गोस्वामी जी की सावधानता तथा नैष्ठिक बुद्धि ऐसी है कि वह कथा-प्रसंग के बीच में स्थान स्थान पर हमको बतलाते चलते हैं कि—शिवजी ने ऐसा कहा, अथवा काकभुशुंडि ने ऐसा कहा। उत्तरकांड में कथा का उपसंहार करते हुए वह उसे फिर काकभुशुंडि और गरुड़ की बातचीत पर ले आते हैं। काकभुशुंडि गरुड़ को सारी कथा सुना देने के बाद गोया अब उस का अभिप्राय समझा रहे हैं। तुलसीदास जी अलग के अलग हैं

प्रबन्ध-पटुता का एक दूसरा प्रमाण हमको रामायण के वार्तालापों या कथोपकथनों मे मिलता है। कथोपकथन किसी भी कथा के आवश्यक अंग होते हैं और कथा को सजीवता, चलतापन प्रदान करने तथा पाठक के कुतूहल को बढ़ाने और उसे अधिक अनुरंजित करने में सहायक होते हैं। इसके लिए कथोपकथनों में चुस्ती, विदग्धता, नाटकीय प्रभाव होने चाहिएँ। तुलसीदास जी के कथोपकथनों मे ये गुण हैं। पात्रों और अवसर को देखकर उनके अनुसार ही वार्तालाप कराने में तुलसीदासजी दक्ष हैं। लक्ष्मण-परशुराम संवाद मे विश्रंभ-प्राप्त कुछ धृष्ठता को लिए हुए वाणी की विदग्धता दृष्टिगोचर होती है। रावण-अंगद-संवाद में अंगद के उत्तरों में जो गौरवशालिता दीख पड़ती है, हनुमान्-रावण संवाद में उसका स्थान हनुमान् जी की ओर से

प्रबोधना और चेतावनी ने ले लिया है, क्योंकि दोनों संवादों में परिस्थिति तथा पात्र की विभिन्नता है। अंगद, स्वयं राजपुत्र, भगवान् के दूत बन कर गए थे, परन्तु हनुमान् जी का उस भाँति का नियोग नहीं था और लंका में उनसे ज़बरदस्ती (?) छेड़-छाड़ की गई थी (अथवा हनुमान् जी ने ही रामचन्द्र जी का प्रभाव प्रकट करने के लिए स्वयं ही छेड़-छाड़ की थी (?)। अतः जब अंगद से रावण पूछता है कि तुम कौन हो तो वे केवल उत्तर देते हैं, "मैं रघुवीर-दूत दसकन्धर;" परन्तु रावण के यह पूछने पर कि 'तूने पेड़ क्यों तोड़े और रक्षकों को क्यों मारा' हनुमान्जी का उत्तर होता है—

खायेहु फल मोहि लागी भूखा, कपि स्वभाव ते तोरेऊँ रूखा।
जिन्ह मोहि मारा तिन्ह मैं मारा ....।

अवश्य ही इस उत्तर में प्रभाव प्रदर्शित करने का उद्देश्य है, परन्तु एक बार हनुमान्जी के वचन और कर्म द्वारा रामचन्द्रजी का परिचय प्राप्त हो जाने पर अंगद का केवल इतना ही कहना समीचीन है—"मैं रघुवीर दूत दसकंधर।" विशेषणों से विमुक्त, व्याख्यानों से विहीन, एकमात्र 'रघुवीर' नाम का उल्लेख करना गौरव और महिमा की दृष्टि से व्याख्यानो की अपेक्षा अधिक व्यंजक और प्रभावोत्पादक है।

वर्णनरीति की दृष्टि से गोस्वामी जी की भाषा "कहीं तो परम कवितामयी हो जाती है और कहीं बिलकुल व्यावहारिक और सीधी-साधी। कारण यह कि तुलसीदासजी ऊँचे विद्वान् और कवि भी थे और उन्हें लोक-व्यवहार का भी अच्छा अनुभव था। जहाँ वे प्रभु के गुणों का तथा उनके सौंदर्य का वर्णन

करते हैं अथवा जहाँ वे प्रकृति की शोभा का दर्शन करते-कराते हैं वहाँ भाषा में कविता स्वाभाविक रूप से फूट पड़ती है और जहाँ उन्होंने हमारे जीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं तथा कार्यों का वर्णन किया है वहाँ भाषा भी व्यवहारानुकूल सीधी-सादी अथवा चलती पुर्जी हो गई।" भाषा की व्यावहारिकता का एक रूप उसका मुहावरेदार होना भी है। तुलसीदासजी ने मुहावरों का काफ़ी प्रयोग किया है, जैसे—'पसारि पॉव सुति हौं' (पॉव पसार कर सोता हूँ) अथवा "लैबे को एक न दैबो को दोऊ' (लेना एक न देना दो)। स्वयं भी कितनी ही ऐसी अनुभव-जन्य उक्तियाँ कहीं हैं जो बाद में कहावत स्वरूप हो गईं, जैसे—"चेरि छाँडि नहिं होउब रानी,' 'मूँड मुँडाइ भये सन्यासी,' आदि।

अवसरानुकूल भाषा को कोमल या ओजपूर्ण बना देना इनके हाथ का खेल था। 'कंकण किंकिणि नूपुर-धुनि सुनि' में सचमुच कंकण आदि का कोमल संगीत ही सुनाई देने लगता है। उधर वीर-रौद्र आदि के प्रसंग में ओज का साक्षात् अवतार हो जाता है। राम द्वारा, शिवधनुष तोड़े जाने पर—

डिगति उर्वि अतिगुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
व्याल बधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयन्द लरखरत, परत दसकंठ मुक्खमर।
ब्रह्मंड खंड कियो चंड धुनि, जबहि राम सिव धनु दल्यो॥

रामचरितमानस में तो माधुर्य और प्रसाद जैसे भरा पड़ा है। एक प्रकार से तो जहाँ जहाँ ओज का अवसर नहीं है वहाँ सर्वत्र ही प्रसाद का प्रवाह है, माधुर्य तथा प्रसाद का संयोग नीचे के सवैये में कैसा अच्छा है—

कीर के कागर ज्यों नृपचीर विभूषन उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगवास के रूख ज्यों, पंथ के साथी ज्यों लोग-लुगाई।
संग सुबंधु, पुनीत प्रिया मनों धर्म-क्रिया धरि देहि सुहाई।
राजिवलोचन राम चले, तजि बाप को राज बटाऊ की नाई॥
(कवितावली)

तुलसीदास जी बड़ी सुव्यवस्थित भाषा लिखते थे। अनेक पुराने कवियों की भाँति इनके वाक्य विशृंखल या निरन्वय नहीं है। शब्दों का तोड़-मरोड़ भी इनमे दूसरों की अपेक्षा बहुत कम है।

इनको कई भाषाओं पर अधिकार था। संस्कृत के ये विद्वान् थे और इनका पाडित्य गहरा था जिसका अनुमान हमको इनकी रचनाओं के अध्ययन तथा 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्' आदि से हो सकता है। तुलसीदास जी ने अवधी और व्रजभाषा दोनों ही में कविता की है, और कहीं कहीं ये अरबी-फारसी के शब्दों को काम में लाने में भी नहीं हिचकिचाए हैं। इसका यह मतलब नहीं कि ये आजकल की बहु-अनुरुद्ध 'हिन्दुस्तानी' भाषा को उस काल मे जन्म देना चाहते हैं। सब कुछ होते हुए भी इनकी भाषा शुद्ध हिन्दी ही है। इनके अतिरिक्त तुलसीदास जी ने अपने समय तक प्रचलित सब तरह की पद्धतियों में रचना की है। प्रबन्ध काव्य, स्फुट काव्य, गीतिकाव्य, दोहा-चौपाई-कवित्त-सवैया आदि, ग्राम-गीत, विवाहादि के समय के गीत—सब कुछ ही—इनकी रचना मे हमको देखने को मिलते हैं। अलग-अलग, भाषा भी सब की अनुकूलता ग्रहण करती चलती है।

वर्णन-रीति में इनकी अलंकार-पद्धति पर विचार करना रह गया है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि इनका अलंकार-प्रयोग भाषा और भाव के अनुकूल, दोनों का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए हुआ है। वह स्वाभाविक है; उसमें जबरदस्ती की ठूँस-ठाँस या खींचातानी नहीं है। अवसर पर सभी प्रकार के अलंकार आ गए हैं, परन्तु अधिकता रूपक उपमा और उत्प्रेक्षा की है। उपमा और रूपक का संकर बहुत जगह हो गया है। लम्बे लम्बे साँगरूपक इनके जैसे शायद ही किसी दूसरे कवि ने कहे हों। इस तरह के रूपक कुछ दुरूह हो गए हैं, परन्तु किसी आध्यात्मिक तत्त्व को सांगोपांग समझाने के लिए ही उनका विशेषतः प्रयोग हुआ है। दूसरे सांग-रूपक उतने बड़े नहीं हैं। बालकांड के आरम्भ में संत-समाज के ऊपर यह रूपक कहा गया है—

मुद-मंगल-मय संत-समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू।
राम-भगति जहँ सुरसरि-धारा। सरसइ ब्रह्म-विचार-प्रचारा।
विधि-निषेध-मय कलिमलहरनी। करमकथा रविनंदिनि बरनी।
हरिहर-कथा विराजत वेनी। सुनत सकलमुद-मंगल देनी।
बटु विश्वासु अचल निज धर्मा। तीरथराज- समाज सुकर्मा।
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।
अकथ अलौकिक तीरथराऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ
मुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधुसमाज प्रयाग॥

तुलसीदास जी की रचनाएँ सांसारिक लोगो के लिए कल्पतरु के समान हैं। जो व्यक्ति भक्ति या अध्यात्म की चिन्ता नहीं करता वह भी अपने लोकायतिक जीवन के लिए उनमे ऐसे ऐसे

अनुभव-सत्य इकट्ठे कर सकता है जिनसे, यदि वह उनको पालन करे तो, अपनी संसार-यात्रा में बहुत कुछ सफल हो सकता है। अनुभवजन्य व्यापक सत्य को 'सूक्ति' कहा जाता है। गोस्वामी जी की रचनाएँ 'सूक्तियों' का भंडार हैं, क्योंकि वे अनुभव का भंडार हैं। यदि उन सबका संग्रह किया जावे तो एक दूसरी रामायण बन जावे। यहाँ केवल कुछ थोड़े से अनुभव-रूप सत्यो का उल्लेख किया जाता है—

नीच निरादर ही सुखद, आदर दुखद विशाल।
कदली बदली विटप गति, पेखेहु पनस रसाल॥

फूलइ फलइ न बेत, यदपि सुधा बरसहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं बिरंच सम॥

होत भले के अनभले, होइ दानि के सूम।
होइ कपूत सपूत के, ज्यों पावक तें धूम॥

काटे पै कदली फरै, कोटि जतन करि सींच।
विनय न मान खगेस सुनु, डाटे पै नव नीच॥

सारदूल को स्वाँग करि, कूकर की करतूति।
तुलसी तापर चाहिए, कीरति, विजय विभूति॥

जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति कि रीति भल।
बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत ही॥

सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय, तिन्है बिलोकत हानि॥

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान को एक।
पालै पोषै सकल अंग, तुलसी सहित विवेक॥

मीराबाई

जोधपुर राज्य के अन्तर्गत मेड़ता नामक जागीर के चौकड़ी गाँव में मीराबाई का जन्म हुआ था। इनके जन्म-संवत् के बारे में ऐकमत्य नहीं है, परन्तु सामान्यतः इनका जन्मकाल संवत् १५५५ और १५६० के बीच में माना जाता है। इसी तरह इनके परलोकगमन का संवत् भी एक मत के अनुसार १६०३ कहा जाता है, पर भारतेन्दु ने उसे १६२० और १६३० के बीच मे बताया है।

मीरा का विवाह उदयपुर में राणा सांगा के लड़के भोजराज के साथ संवत् १५७३ मे हुआ। विवाह होने के बाद दस बरस के भीतर ही ये विधवा हो गईं। पुरातन जन्मों के संस्कार से इन्हें बचपन में ही कृष्णभक्ति का चसका लग गया था। कहा जाता है कि जब ये बिलकुल छोटी ही थीं तब एक साधु इनके पिता के घर आया था जिसके पास कृष्ण की एक प्रतिमा थी। मीराबाई उस प्रतिमा के लिए मचल गईं और उसे लेकर ही मानीं। उस प्रतिमा को ये विवाह के बाद अपने साथ सुसराल भी लेती आईं।

कृष्णभक्ति की तल्लीनता में उन्होने अपने विवाहित जीवन को लोकानुमत रूप मे अंगीकार नहीं किया था। अतः वैधव्य प्राप्त होने पर भी उनके ऊपर इस घटना का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वे साधु सन्तों तथा महात्माओं की संगति में अपना समय बिताने लगीं। इनके देवर विक्रमादित्य, जो उस समय राणा थे, इनको इस मार्ग से विपथ कराने के लिए तरह-तरह के उपाय करने लगे। उन्होंने कई स्त्रियाँ उन्हें समझाने के लिए भेजीं, पर मीरा के पास पहुँच कर वे भी उन्हीं के रंग मे रंग

गई। तब राणा ने अपने कुल की बदनामी के डर से मीराबाई के प्राण ही लेने का इरादा कर लिया, उन्होंने इनके पास विष का पात्र भेजा, पिटारी में बंद कर के साँप भेजा। परन्तु विषपान से मीरा का कुछ भी अहित न हुआ और पिटारी में साँप के स्थान में सालिगराम निकले। मीरा ने इन घटनाओं का स्वयं जिक्र किया है—

राजा रूठे नगरी राखै, हरि रूठ्याँ कहँ जाणा॥
राणै भेज्या जहर पियाला, इमरत करि पी जाणा॥
डबिया में भेजा जु भुजगम, सालिगराम करि जाणा।
मीरा तो अब प्रेम दिवाणी साँवलिया वर पाणा।

जब इनको बहुत अधिक सताया गया तो ये मेवाड़ छोड़कर चली गई। मालूम होता है, समाज ने भी इनके साथ अधिक उदारता का बर्ताव नहीं किया होगा, क्योंकि अपने पदों में इन्होंने स्थान-स्थान पर लाज, कुलकानि आदि त्याग देने का निर्भीकता-पूर्वक उल्लेख किया है, जिसकी शायद इन्हे जरूरत न पड़ती यदि लोगो ने इस तरह की बातें कह कह कर इन्हे बदनाम करने की प्रवृत्ति न दिखाई होती।

कहा जाता है कि एक बार मीराबाई वृन्दावन के साधु जीव गोसाई के दर्शन करने के लिए पहुँची। जीव गोसाईं स्त्रियों से नहीं मिलते थे और उन्होने मीराबाई से मिलने से इनकार कर दिया। इस पर मीराबाई ने उत्तर दिया कि मैं तो सिवा कृष्ण के सबको स्त्रीवत् ही समझती थी, पर आज मालूम हुआ कि आप भी एक पुरुष हैं। तब गोसाई जी बड़े शरमाए और स्वयं ही बाहर आकर उन्होने मीराबाई का स्वागत किया। मीराबाई के

बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि अपने संबंधियों द्वारा बहुत अधिक त्रासित की जाने पर इन्होंने तुलसीदास जी को एक पत्र लिखकर उनसे पूछा था—'हमकू कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाई।' तुलसीदास जी ने इसका यह उत्तर दिया था—

जाके प्रिय न राम वैदेही

तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

संत रैदास मीराबाई के गुरु थे। मीरा ने स्वयं इस बात को कहा है। "मीरा नें गोव्यन्द मिल्या जी, गुरु मिल्या रैदास।" कबीर की भाँति मीरा ने भी गुरु की बहुत महिमा बताई है, और सत्संग को भी बड़ा महत्त्व दिया है।

मीरा के पदों में यद्यपि कहीं कहीं ब्रह्मवाद, 'निरगुन सेज' 'अनहद की झनकार' आदि का ज़िक्र आया है, तथापि वे निर्गुणोपासिका नहीं थीं। वे कृष्ण की मोहिनी मूर्ति पर अनन्य रूप से अनुरक्त थीं और उनको अपने पति के रूप मे मानती थीं। कृष्ण के प्रेम से उनकी आत्मा सराबोर थी। वास्तव में उनको उपासिका-मात्र कहना अनुचित होगा। उनकी भावना उपासना के क्षेत्र में बहुत ऊँची उठकर उत्कट प्रणय का रूप बन गई है। निर्गुणोपासना का ज्ञान के साथ जो संबंध रहता है उसकी इनके निर्गुणसंबंधी पदों में झलक होते हुए भी इनका प्रेम ज्ञान से व्याप्त नहीं हुआ है, बल्कि प्रेम ही ज्ञान को व्याप्त कर लेता है।

मीरा का 'गिरधर' या 'गोपाल' पूर्ण पुरुष के रूप में 'अविनासी' है और, अभेद के कारण, स्थान स्थान पर, उसे राम भी कह दिया गया है। फिर, अन्यत्र उसके नाम 'नारायण', 'गोविंद' आदि भी हो जाते हैं। पर जिस किसी रूप मे भी हो मीरा उसकी

प्रणयिनी है। समय समय पर जब प्रणय-लालसा अति तीव्र हो उठती है तो, मीरा उसके पूर्णपुरुषत्व के विलीन करती हुई सी उसे अपना 'बालम' 'मोहन' 'पिया' 'सजन' आदि कहने में संकोच नहीं करती। अंगी प्रणय की किसी अन्य भावस्थिति में वह उसे 'साहब' और 'महाराज' भी कह लेती है, और उसको सलाम भी भेजती है, जिसमें दीनता और विनति का प्रश्रय रहता है, यथा—

छोडी छोडी कुल की लाज साहिब तेरे कारणों।
थोडी थोडी लिखूं सलाम बहुत करि जाणज्यो।
बंदी हूँ खानाजाद मेहर करि मानज्यो ।
मीरा चरणों की दास · · ·· ॥

मीरा अपने प्रणयपात्र के प्रेम की उत्कटता में हर समय 'दरद-दिवानी' रहती थी। इस दरद-दिवानीपन के एक पक्ष मे वह परम साहसी और निर्भीक है और दुनिया का सब कुछ त्याग कर लोगों को चिल्ला कर सुनाती फिरती है—'मीरा गिरिधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगाड़ी', बरजी मैं काहू की नाहिं रहूं', 'म्हारो कोई न रोकनहार', 'कुल की कान छाँड़ि दई ···होनी होय सो होई' आदि। पर दूसरे पक्ष में वह नितान्त अबला है; उसका संपूर्ण आत्मभाव आत्मसमर्पण में बह चुका है, और उसकी कातर दृष्टि टेक के लिए अपने प्रभु की ओर ही लगी रहती है।

बड़े यत्न से बड़े कीमती जल से उसने प्रेम की बेल को सींचा है। "अँसुवन जल सींच सीच प्रेम बेल बोई।" इस प्रेम से उत्पन्न हुए दरद की अवस्था में तो वे विरहोत्कंठिता ही दिखाई देती हैं, परन्तु दूसरी अवस्थाओं में हम उन्हें कभी तो मिलन आशा से उत्सुक और उत्फुल्ल नवयौवना नायिका के रूप में भी

देखते हैं और कभी कृतमंगल संयुक्ता के रूप में भी। इन तीनों अवस्थाओं के अन्तर्गत उनके संचारियों और अनुभावों के रूप में कहीं उपालंभ दिखाई देता है, कहीं निहोरे किये जाते हैं और कहीं दीनता धर दबाती है और मीरा अपने को पामाल कर लेती है। इन्हीं भाव-परिवर्तनों के अनुरूप मीरा का नायक भी मोहन, साँवरिया, साजन, महाराज आदि भिन्न-भिन्न रूपों में उसके सामने प्रकट होता है। साराश यह कि जिस जिस बदलने वाली स्थिति में मीरा अपने आप को पाती है उसके अनुसार ही उनकी भाव-परंपरा के परिवर्तन से उसके स्वामी के रूप भी बदलते रहते हैं। प्रभु के इन भिन्न भिन्न रूपों को स्वतन्त्र मानकर उन्हे मीरा के तत्संबंधी दृष्टिकोण का भेद समझना हमारी भूल होगी। वे मीरा के ऐकरस्य की केवल संचारी अवस्थाएँ भर हैं। कैसे कैसे मीरा का प्रेम भिन्न-भिन्न भावस्थितियो मे संचरण करता हुआ बढ़ता है, इसे हम कतिपय उदाहरणो द्वारा देखेंगे।

सूरदासजी की गोपियो के हृदय में 'तिरछे ह्वै जु अड़े' थे उन्होंने अपने समस्त अंगो की टेढ़ाई से मीरा के नेत्रो को भी उलझा लिया है—

निपट-बंकट छवि अटके।

देखत रूप मदनमोहन को पियत पियूखन मटके।

बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंधरस अटके।।

टेढ़ी कटि टेढी करि मुरली टेढी पाग लर लटके।

मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरिधर नागर नट के।।

ये रूप लुभानी मीरा अपनी मिलनोत्सुकता मे कहती हैं—

(क) म्हांने चाकर राखोजी; गिरिधारी लला; चाकर राखो जी।

चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठि दरसन पासूँ।
विन्द्राबन की कुंजगलिन में तेरी लीला गासूँ।
ऊँचे ऊँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी।
सांवरिया के दरसन पाऊँ पहिरि कुसुंभी सारी।
मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदे रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन दै हैं, प्रेमनदी के तीरा॥

मिलन हुआ भी परन्तु विछोह देने के ही लिए—

सोवत ही पलका में मैं तो, पलक लगी पल में पीव आए।
मैं जु उठी प्रभु आदर देण कूँ, जाग परी पीव ढूँढ न पाए।
और सखी पिव सोइ गमाए, मैं जु सखी पिव जागि गमाए।

इसके बाद विरह की वेदना आरम्भ हो जाती है—

मैं जाण्यो नाहीं प्रभु को मिलन कैसे होइ री।
आये मेरे सजना, फिर गए अँगना, मैं अभागण रही सोई री।
फाडूँगी चीर, करूँ गल कथा, रहूँगी वैरागण होइ री।
चुरियां फोरूँ, माग बखेरूँ, कजरा मैं डारूँ धोइ री।
निसि बासर मोहि विरह सतावै, कल न परत पल मोइ री।
मीरा के प्रभु हरि अविनाशी, मिलि विछरो मत कोइ री।

पिय बिन सूनो छै जी म्हारो देस।
ऐसा है कोइ पीवकूँ मिलावै तन मन करूँ सब पेस।
तेरे कारण बन बन डोलूँ कर जोगण को भेस।
अवधि बदीती अजूँ न आए, पंडर होइ गया केस।
मीरा के प्रभु कब हि मिलोगे तजि दियो नगर नरेस॥

तदुपरान्त मीरा संदेसा भेजती है—

जोगिया ने कहज्यो जी आदेस.........................।
जोगणि होइ जुग ढूँढसूँ रे म्हारा रावलियारी साथ।

सावण आवण कह गया वाला कर गया कौल अनेक।
गिणता गिणता घिस गई रे म्हारा आंगलियां री रेख।
पीव कारण पीली पड़ी बाला जोबन बाली बेस।
दासी मीरा राम भजि के तन मन कीन्हो पेस॥

इस समय मीरा की वेदना बहुत बढ़ गई है। वे उसके कारण दीवानी हो रही हैं। उनकी इस वेदना को कौन समझेगा? उसे केवल दो ही व्यक्ति समझ सकते हैं—जिसको वह वेदना हो रही है, या फिर जिसने उस वेदना को उत्पन्न किया है—

हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोइ।
घाइल की गति घाइल जानै, कि जिण लाई होइ॥

इस दरद का कोई इलाज भी नहीं है। है भी तो केवल एक ही—

दरद की मारी बन बन डोलूँ वैद मिल्या नहि कोइ।
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी जब वैद सावलिया होइ॥

ईर्ष्या की अवस्था में मीरा ने उपालंभ भी दिए हैं पर मीरा के उपालंभों मे मान की कमी है, क्योंकि मीरा पूर्ण आत्मसमर्पण कर चुकी है। अतः उसमें दैन्य, निवेदन, मनावन ही का विशेषतः प्राधान्य है। इसलिए वह कहती है—

अब के जिन टाला दे जावो सिर पर राखूँ विराज।
म्हे तो जनम जनम की दासी, थे म्हाका सिरताज॥

अथवा—हाँ हो म्हरा नाथ सुनाथ विलम नहिं कीजियै।
मीरा चरणाँ की दास, दरस अब दीजियै॥

चरणों की दासी के नाते मीरा दया की भिक्षा माँगती है—"अब तो वेगि दया करि साहिब; मैं तो तुम्हारी दासडिया" और उन के प्रभु ने जिन जिन पहले के अधर्मों पर दया की है उनकी कोटि मे अपने

को रखती हुई निवेदन करती है—हमने सुनीहैं हरि अधम उधारन···गज की अरजि गरजि उठि धायो···रिखपतनी पर किरपा कीन्ही ··मीरा के प्रभु मो बंदी पर एती अबेर भई किस कारण'। दैन्य, आत्म-तिरस्कार और प्रार्थना के इस स्वर में उसके "सैंया", "सावरो" की ध्वनि नहीं रह गई है, प्रत्युत वह अब "अधम-उधारन हरि" हो गया है। पर, यह सब होने पर भी, मीरा का हृदय कहाँ जाएगा ? 'मो बंदी' (या दासी) के विशेषाधिकार को वह कैसे भूल जाए ? हाँ, निराश विरही के आत्मनिग्रह के रूप में वह यहाँ तक कहने को तैयार है—

म्हारे नातो नाँव को रे और न नातो कोइ।
मीरा व्याकुल विरहणी रे, दरसण दीजो मोइ॥

मीरा की विरह-वेदना को देख कर कौन न पसीजेगा, किसे दया न आएगी ? निष्ठुरता की भी हद ही होती होगी। मीरा का भाग्य जागा है। प्रभु के आगमन के शुभ लक्षण दिखाई देने लगे हैं—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
म्हैल चढ़ि चढ़ि जोऊँ मेरी सजनी कब आवै महाराज।
दादुर मोर पपइया बोलै क़ोयल मधुरै साज।
उमंग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै दामिणी छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलण कै काज।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी बेगि मिलो महाराज॥

लो, वह आ भी गया। मीरा की मन चाही हो गई। और, उसका 'प्रभु हरि अविनासी' उसके घर उसका 'साजन' बनकर आया है। मीरा की खुशी का ठिकाना नहीं—

सहेलिया साजन घर आया हो।
बहोत दिना की जोवती विरहणि पिव पाया हो।

रतन करूँ नेवछावरी लै आरति साजूँ हो।
पिया का दिया सनेसड़ा ताहि बहोत निवाजूँ हो।
पांच सखी इकठी भई मिलि मंगल गावै हो।
पिय का रली वधावणा आनन्द अंग न मावै हो।
हरि सागर सूँ नेहरो नैणाँ बंध्या सनेह हो।
मीरा सखी के आगणै दूधा वूठा मेह हो ॥१॥

मीरा की मानसिक वृत्ति के अन्वेषण मे कोई कोई महानुभाव रहस्यवाद को भी उसके किसी किसी पद में ढूँढने की कोशिश करते हैं। आजकल की आलोचना-प्रवृत्ति मे हम लोग कुछ अधिक रहस्यप्रधान अथवा रहस्यप्रवण हो गए हैं और प्रायः कवियों तथा कविताओं में रहस्य के लिए विशेष चौकन्ने रहते हैं। इसका कारण शायद आज कल के कुछ कवियों की रहस्यवादात्मक रुचि है जो सब को पसन्द नहीं आती। उसी की विरोधात्मक तुलना के लिए हम प्राचीन कवियों में से सच्चे रहस्यवाद को निकाल कर दिखाते हैं।

वैसे तो, कबीर वाले लेख मे हमने कहा है, हम सभी थोड़े-बहुत रहस्यवादी हैं, और हमने यह बताना है कि ऊँचे महात्मा तथा भक्त तो, अपनी जीवन-गति तथा भावधारा मे, पूर्ण रूप से रहस्यवादी ही हैं। इस दृष्टि से मीरा भी पूर्ण रहस्यवादिनी (अथवा कहना चाहिए, रहस्यभाविनी) है, क्योंकि, तर्क दृष्टि से, मीरा के लिए जीवन्व्यक्ति तथा परमव्यक्ति के युग्म के अतिरिक्त दूसरा युग्म ही नहीं है और पतिपत्नी का लौकिक युग्म उस एक युग्म का प्रतीक मात्र है। परन्तु स्त्री होने के कारण मीरा ने उस एकयुग्म की भावना को लौकिक पत्नी के हृदय से ही देखा है, लौकिक युग्म

को पारमार्थिक युग्म की छाया में नहीं। कबीर स्त्री नहीं थे, इसलिए वे 'राम की बहुरिया' बन कर भी बहुरिया के हृदय से राम को ग्रहण न कर सके, वे केवल बहुरिया के आदर्श को ही पकड़ सके और राम को निर्दिष्ट न बना सके। यहाँ सगुण साधना और निर्गुण साधना का भेद भी आ जाता है। मीरा के राम या गोविंद (अथवा जिस किसी नाम से भी उन्हे पुकारा जाए) पूर्ण रूप से निर्दिष्ट हैं और मीरा भी अपने पत्नीत्व मे पूर्ण रूप से निर्दिष्ट है। मीरा के प्रभु परब्रह्म आदि होते हुए भी उनके प्रेम के लिए व्यक्ति ही हैं इसीलिए उनके दरद का भी जो रूप है वह इतना स्पष्ट है।

ऐसी हालत मे यदि हम मीरा के किसी पद मे प्रकृति का हँसना खेलना देख लें तो उसी एक पद मे रहस्यवाद की प्रवृत्ति को क्यो ढूँढें ? प्रेमी भावुक के लिए प्रकृति के पदार्थों को देखने तथा उनसे भावसंग्रह अथवा उनको भावप्रदान करने की मुमानियत तो है नहीं। लौकिक प्रेमी भी क्या अपनी संयोग की अवस्थाओं मे प्रकृति को देख कर आनन्दित और खिन्न नहीं होते ? वसंतवाटिका मे खिले हुए रंग-बिरंगे पुष्प क्या दो संयोगियो को हंसते हुए नहीं दिखाई देते ? तब मीरा के 'दादुर मोर पपइया' आदि ने ही क्या अपराध किया है कि उन्हे मीरा के मधुर मिलनोत्सव में सहयोग न देने दिया जाए ? मीरा की गहरी प्रेमभावना मे इस प्रकार रहस्य-भाव की पुट देना उसके प्रेम की गहराई को बहुत कुछ उथला बनाना है।

मीरा के प्रेम की निर्दिष्टता तथा उसके दरद का पूर्ण रूप एक बार स्पष्ट हो जाने पर मीरा के इस प्रकार के वर्णन हमारे सामने उसके भाव के उद्दीपनो के रूप मे उपस्थित होते हैं जो मीरा के

केशवदास

केशवदास का समय मिश्रबन्धुओं ने संवत् १६१२ (या १६१८) से संवत् १६७४ तक माना है। परन्तु बाबू रामचन्द्र वर्मा ने 'कविता-कुंज' में केशवदास के परिचय में, इसे १५६४—१६८० बताया है।

केशवदास ओड़छे के रहने वाले थे और जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। सनाढ्यों को ब्राह्मणों में ये परम महिमान्वित मानते हैं और यहाँ तक कहते हैं कि—'सनाढ्य जाति सर्वदा, यथा पुनीत नर्मदा। सनाढ्य वृत्ति जो हरै, सदा समूल सो जरै।' इस प्रकार की मनोवृत्ति अच्छी मनोवृत्ति नहीं है; परन्तु अपनी वंशपरंपरा के गौरव के साथ साथ कदाचित् जाति-गौरव की भी भावना को उन्होंने स्वाभाविक रूप से मिला लिया होगा। इनके पूर्वज बराबर संस्कृत के धुरीण विद्वान् होते आये थे। उनमें से किसी ने 'भावप्रकाश' नामक आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा था और स्वयं इनके पिता काशीनाथ ज्योतिषशास्त्र के सुपरिचित ग्रंथ 'शीघ्रबोध' के निर्माता थे। अपने कुल में केशवदास ही हिन्दी के पहले लेखक हुए हैं जिस का केशवदास ने स्वयं इस प्रकार जिक्र किया है—

उपज्यो तेहि कुल मंदमति, सठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, भाषा करी प्रकाश॥

तथा—भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्दमति, तेहि कुल, केशवदास॥

उस समय ओडछे के राजा रामसिंह थे, परन्तु वे अधिकतर दिल्ली में रहा करते थे और उन्होंने राज्य का कार-बार अपने

छोटे भाई इन्द्रजीतसिंह के ऊपर छोड़ रक्खा था। इन्द्रजीतसिंह के यहाँ केशवदास का बड़ा मान था। वे वस्तुतः इन्हें अपना गुरु मानते थे और उन्होंने इनको बहुत कुछ जागीर आदि दी थी। केशवदास ने कहा है—"भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजै जुग जुग, केसवदास जाके राज राज सो करतु है।"

इन्द्रजीतसिंह की इच्छा से इन्होंने अपने पहले ग्रंथ 'रसिकप्रिया' की रचना की। इन्द्रजीत के दरबार में उनकी बहुत-सी रखैल नाचनेवालियाँ भी थीं जिनमें प्रवीणराय बड़ी प्रतिभावती थी। केशवदास जी उसके भी गुरु थे और उसे कविता सिखाते थे। उस के लिए उन्होंने 'कविप्रिया' लिखी। प्रवीणराय की स्तुति करते हुए इन्होंने उसे रमा, शारदा आदि की कोटि में रक्खा है।

संवत् १६६२ में अकबर मर गया और उसका लड़का जहाँगीर सम्राट् हुआ। इसके कुछ समय बाद जहाँगीर के एक कृपापात्र वीरसिंह ने रामसिंह से ओड़छे का राज्य छीन लिया। केशवदास उसके भी राजकवि हुए और उसकी तथा जहाँगीर की खुशामद में इन्होंने 'वीरसिंहदेव-चरित' तथा 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' नामक रचनाएँ कीं। इन्द्रजीतसिंह, प्रवीणराय तथा वीरसिंह के अतिरिक्त केशवदास राजा बीरबल तथा एक किसी अमरसिंह के भी कृपाभाजन थे। 'कविप्रिया' में उन्होंने इन दोनों व्यक्तियों के दान का वर्णन किया है। राजा बीरबल ने तो, कहा जाता है, एक स्तुतिपूर्ण छन्द पर इन्हें तत्काल छै लाख रुपया दे डाला और अकबर द्वारा इन्द्रजीतसिंह पर किए गए एक करोड़ के जुर्माने को माफ करा दिया। वह छन्द इस प्रकार है—

पावक पंछी पसू नर नाग नदी नद लोक रचे दसचारी।
'केसव' देव अदेव रचे नरदेव रचे रचना न निवारी।
कै वर वीर बली बलवीर भयो कृतकृत्य महा व्रतधारी।
दै करतापन आपन ताहि दई करतार दुवौ कर तारी॥

इसे छन्द को सुनाकर केशवदास भी कृतकृत्य हुए और कृतज्ञता-प्रकाशन के लिए उन्होने पुनः दूसरा छन्द रचकर सुनाया जो यह है—

केशवदास के भाल लिख्यो विधि, रंक को अंक बनाय सँवारयो।
छोड़े छुट्यो नहि धोये-धुयो, बहु तीरथ के जल जाय पखारयो।
ह्वै गयो रंक ते राउ तहीं जब वीर बली बलवीर निहारयो।
भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाय रह्यो मुख चारयो।

इनके 'रसिक-प्रिया' और 'कविप्रिया' काव्यशास्त्र-संबंधी लक्षण-ग्रंथ हैं, जिनको इन्होंने कुछ संस्कृत ग्रंथों के आधार पर बनाया था। परन्तु, मालूम होता है, उनकी रचना के लिए किन्हीं अधिक माननीय ग्रंथों का अध्ययन इन्होने नहीं किया। उनमें काव्य के बाह्यांगों का ही विवेचन है; वह भी बहुत कुछ भ्रान्त-सा। 'कवि प्रिया' मे काव्यालंकार तथा काव्यदोष दिए गए हैं जिनका बहुत कुछ आधार दंडी का 'काव्यादर्श' है परन्तु अलंकारों तथा दोषों के नामों मे इन्होंने अपनी तरफ़ से भी बहुत कुछ फेरफार कर दिया है। दंडी के 'काव्यादर्श' में रसादिक का विवेचन नहीं है। परन्तु रस तथा ध्वनि जैसे किन्हीं तत्त्वों के विषय मे दंडी ने सुन अवश्य रक्खा था, जिन्हें अच्छी तरह समझ न सकने के कारण वे उन्हे 'रसवत्' अलंकार से ऊँचा न उठा सके। केशवदास ने भी 'रसवत्' अलंकार को माना है। यद्यपि इन्होंने

'रसिकप्रिया' में नौ रसों तथा भावभेदों का प्रसंग उठाया है परन्तु दंडी की भाँति वे भी रससिद्धान्त को अच्छी तरह हृदयंगम न कर सके। उन्होंने तमाम रसों को शृंगार में ही मिलाने की चेष्टा की है। परन्तु केशव के समय तक हिन्दी में लक्षणग्रंथ-रचना की पद्धति चली नहीं थी। केशवदास इस दिशा में एक प्रकार से अग्रणी हैं; अतएव अपने इन दो ग्रंथों के कारण वे आचार्य कहे जाते हैं।

केशव-रचित अन्य ग्रन्थो के नाम 'नख-सिख', रतनबावनी', 'रामचन्द्रिका' और 'विज्ञान-गीता' हैं। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने पिंगलशास्त्र की भी कोई पुस्तक लिखी थी, परन्तु उसका अभी पता नहीं चला है। इनके तमाम ग्रन्थों मे रामचन्द्रिका सबसे अधिक प्रसिद्ध है जिसके कारण इनको 'महाकवि' की उपाधि दी गई है। रामचन्द्रिका को लोग महा-काव्य कहते हैं। केशव जी ने कहा है कि इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने स्वप्न में वाल्मीकि जी के कहने से की और तभी से उन्होंने रामचन्द्र जी को अपना इष्टदेव बनाया। "वालमीकी मुनि स्वप्न महँ दीन्हो दर्शन चारु।" इसके बाद ऋषि से रामनाम का उपदेश ग्रहण करके " तहीं करयो रामचन्द्र जू इष्ट।"

परन्तु रामचन्द्र का इष्ट करने पर भी ये रामचन्द्र के कोई भावुक भक्त थे, ऐसा रामचन्द्रिका के पढ़ने से नहीं मालूम होता। परंपरानुगत रूप में, जिस तरह बहुत से सांसारिक करते हैं, राम को बड़े से बड़ा ईश्वर मानते हुए भी केशवदास उनके लिए कहीं द्रवित होते नहीं दिखाई देते, और न उनका वर्णन करने में यथोचित मर्यादा का ही ध्यान रखते हैं। कारण इनका राजसी

जीवन और इनकी रसिक—(लौकिक के रूप में, भावुक के रूप में नहीं)—प्रकृति कही जा सकती है। अपनी रसिकता के लिए तो ये बदनाम से भी हैं। केशव का निम्नलिखित विषादपूर्ण दोहा बहुत-से लोग जानते हैं और इनकी समस्त रचनाओं मे इनका यह दोहा ही शायद सबसे अधिक प्रसिद्ध है—

केशव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चंद्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥

फलतः हम देखते हैं कि 'रामचन्द्रिका' मे राम का वर्णन अधिकतर शृंगारपूर्ण है। एकाध स्थान पर स्त्रैण भावसूचक भी है, जैसे बनवास में—

मग को श्रम श्रीपति दूर करैं सिय को, शुभ बाकल अंचल सों।
श्रम तेउ हरैं तिनको कहि केशव चंचल चारु दृगंचल सों॥

इससे राम और सीता, दोनों, ही की मर्यादा पर पानी फेर दिया गया है। बनवास के बाद जब रामचन्द्र राजधानी को लौट आकर राजकार्य सँभालते हैं और भिन्न भिन्न स्थलो अथवा विभागो का निरीक्षण करते हैं तो उन्हे धनागार, सुगंधागार, जलशाला और मेवाओं के भंडार के अतिरिक्त और कोई डिपार्टमेंट मुआइने के लिए मिलता ही नहीं—इतने बड़े बड़े शत्रुओ का विध्वंस करने वाले, अश्वमेध-यज्ञ संपन्न करने वाले, इतने प्रतापी राजा की राजधानी में क्या कोई आयुधागार तक नहीं था ? राजसी ठाट-बाट की चमक-दमक तथा शृंगारी वृत्ति की झोंक में केशवदास यह भी भूल गए कि आगे चलकर इन्हीं राम के विषय में उन्हे यह कहना है कि—

नादै पूरि धूरि पूरि तूरि बन चूरि गिरि,
सोखि सोखि जल भूरि भूरि थल गाथ की।

केशवदास आस पास ठौर ठौर राखि जनं,
तिनकी संपति सब आपने ही हाथ की।
उन्नत नवाय नत उन्नत बनाय भूप,
शत्रुन की जीविकाऽति मित्रन के साथ की।
मुद्रित समुद्र सात मुद्रा निज मुद्रित कै,
आई दिसि दिसि जीति सेना रघुनाथ की॥

केशवदास की रामभक्ति कुछ ऐसी पोच-सी तथा ऊपरी प्रतीत होती है कि उनकी कृत्रिम वृत्तियों के प्रभाव में वह बिलकुल वह जाती है। बहुत से उपमानों को खोजने की बेतुकी बहक में वे एकदम भूल जाते हैं कि राम कौन हैं और उनके बारे में वे क्या कह रहे हैं। वे उन्हें चोर, उल्लू, साँप आदि तक कह जाते हैं। यथा—

चतुर चोर से शोभित भए। धरणीधर धनशाला गए।

तथा—वासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत,
चकवा ज्यों चंद चितै चौगुनी चँपत है।
केका सुनि व्याल ज्यों बिलात जात घनश्याम ॥

परन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से यही राम वे राम हैं जिनके लिए उनके ससुर जनक यह कहते हैं कि—

सिद्ध समाधि सजें अजहूँ न कहूँ जग जोगिन देखन पाई।
रुद्र के चित्त-समुद्र बसै नित ब्रह्महु पै बरनी नहिं जाई।
रूप न रंग न रेख विसेष अनादि अनन्त जु वेदन गाई।
केशव गाधि के नन्द हमैं वह ज्योति सो मूरतिवंत दिखाई॥

केशव की राम-भावना के सम्बंध में इतना जान लेने पर हमारी यह आशा नहीं रहती कि उनकी रचनाएँ भक्तिकाव्य के ढंग की

होंगी। इससे ही हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि प्राकृत काव्य की दृष्टि से भी हृदय की किसी सात्त्विक वृत्ति की गंभीरता अथवा जीवन के व्यापक रूप की ओर किसी प्रकार की निर्व्याज सहानुभूति उनके कविकर्म में हमको कम दिखाई देगी। एक ओर तो वे अपने इष्टदेव तक के प्रति अपने भावों को एक-रूपता नहीं दे सकते और दूसरी ओर वे बुढ़ापे पर कुढ़नेवाले रसिक-शिरोमणि रईस तथा पूरे रईस-मिज़ाज दरबारी कथक (या कवि) हैं, जो एक स्वामी के ह्रास के बाद उस पर अत्याचार करने वाले व्यक्ति को अपना प्रभु बना लेते हैं और चाटुवादों द्वारा अपना ऐश्वर्य बढ़ाते हैं। जागीर की रक्षा दृष्टि 'वीरसिंह-देवचरित' तक तो गनीमत थी, परन्तु 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' का लिखा जाना जिन परिस्थितियो मे आवश्यक हुआ उन्हें जाने बिना केशवदास की मनोवृत्ति में किन्हीं चरित्रभूत उदार सिद्धान्तों का ढूँढना निरर्थक है। व्यापक मानव-जीवन अथवा सामाजिक सूत्रों के प्रति सहानुभूति रखने का प्रश्न तो दूर है, केशव की रचनाओं में घर के भीतर की सामान्य समस्याओं—दांपत्य-संबंध, वात्सल्य, प्रेम आदि की संवेदनाओं तक का कोई रूप दिखाई नहीं देता। दरबारी जीवन के बनावटी-पन तथा उसकी पाबंदियों ने, मालूम होता है, केशव में सहृदयता तथा पारस्परिक सम्बन्धों की सहज भावुकता को अधिक पनपने का आवकाश नहीं दिया। इसीलिए अपने कविकर्म के प्रति भी उनको कोई सहृदयता नहीं है, उसमें कृत्रिमता है, उसे भी अधिकतर दरबारी पोशाक ही पहनाने की चेष्टा करते हैं, जिसमें संभ्रम के कारण अक्सर मिस्सी और सुरमे का स्थान बदल आया करता है।

कुछ महानुभाव केशव की कविता पर बहुत लट्टू हैं और उसमें से ढूँढ ढूँढ कर गुणो की खोज किया करते हैं। हम नहीं कहते कि केशव मे कहीं भी कवित्व दिखाई नहीं देता। किसी कर्म का अभ्यास स्वयं अपने गुणों से खाली नहीं होता, और केशव ने लिखा भी काफी है। गुणो के स्थान पर हम उनके गुणों पर भी दृष्टिपात करेंगे। परन्तु केशव की कविता के गुणों को सराहने के लिए, हम समझते हैं पहले उसके अवगुणों को जान लेना ज्यादा अच्छा है।

अभी कहा गया है कि केशव की कविता मे कृत्रिमता बहुत है। इस कृत्रितमा का रूप है कवि की अतिशय अलंकार-प्रियता। केशव जबरदस्ती, मौके बेमौके, अपनी उक्ति को सजाने की धुन में रहते हैं, गोया कि उसको वह नुमाइश की कोई चीज़ या राजदरबार की नर्तकी बनाना चाहते हो। इस अलकार-प्रियता का कारण उनकी पांडित्य-प्रदर्शन की स्पृहा और अलंकारो की कसरत मे सरकस के से चमत्कार दिखाने की उत्कट लालसा है।

इसके परिणामरूप केशव की कविता मे एक बड़ी भारी बुराई भाववैषम्य की पैदा हो जाती है। भाव से प्रेरित उक्ति में जो अलंकार स्वाभाविकतावश आ जाते हैं वे उपयुक्त भाव को प्रेरित करने में, या कम से कम मन को विनोदित करने मे, सहायक होते हैं। "ये नागपुर की इमरतियाँ चार आने सेर" पुकार पुकार कर अपने संतरो के टेले को गली गली फिराने वाला व्यक्ति भी कोई बहुत बुरा अलंकारी कवि नहीं है। अलंकार के दो ही उपयोग तो हैं—अर्थ-सौकर्य या भाव सौकर्य और चमत्कार द्वारा आनन्द-प्रदान। आनन्द-प्रदान भी अर्थ-सौकर्य का

ही आश्रयी है। संतरा बेचने वाले के शब्दों में हमें ये दोनों तत्त्व मिलते हैं। परन्तु केशव में अर्थ-सौकर्य तो कहीं भूले-भटके ही हाथ लग जाए। कारण, कि उनके पास अर्थ की, कहने के लिए किसी चीज की, कमी है।

केशव का पांडित्य-प्रदर्शन प्रायः सन्देह तथा उत्प्रेक्षाओं द्वारा उपमानों का जमघट उपस्थित करने में दिखाई देता है। परन्तु उपमान तो घर की दीवारों के भीतर या राजदरबारों मे बिकते नहीं विशेषत. सार्थक, साभिप्राय उपमान। अतः केशवदास जी कहीं तो श्लेष द्वारा अप्रयोज्य उपमानो को बटोरते हैं, कहीं शब्दसाम्यमात्र की शरण लेते हैं और कहीं अपनी खोज के लिए अमूर्त मनोलोक या अध्यात्म जगत् की यात्रा करते हैं। नीचे के उद्धरण मे एक दर्जन उपमानी रंगरूट ड्रिल के लिए पंक्तिबद्ध खड़े दिखाए गए हैं—

पजर कै खंजरीट नैनन को केशोदास,
कैधों मीन मानस को जलु है कि जारु है।
अंग को कि अंगराग गेंडुवा कि गलसुई,
किधौं कोट जीवही कौं उर कौं कि हारु है॥

. . . .

. . . .

मान की जमनिका के कंजमुख मूँदिबे को,
सीताजू को उत्तरीय सर्व-सुख-सारु है॥

उधर श्लेष की अलौकिक शक्ति यह है कि वह जंगलों को आदमी बना सकता है। दंडक वन किस तरह पंच पांडव बन जाता है यह नीचे के छंद में द्रष्टव्य है—

पाडव की प्रतिमा सम लेखो। अर्जुन भीम महामति देखो॥

उसी शक्ति से वन कभी अमूर्त हो कर राजसेवा का रूप भी ग्रहण कर लेता है और बिल्वफल के रूप में अपनी मजदूरी पा लेता है। उसके तत्काल ही बाद वह प्रलयकाल की ज्वालाओं का दृश्य भी उपस्थित कर देता है, यथा—

शोभत दंडक की रुचि बनी। भाँतिन भाँतिन सुंदर बनी॥
सेव बड़े नृप की जनु लसै। श्रीफल भूरि भयो जहँ बसै॥
बेर भयानक सी अति लगै। अर्कसमूह जहाँ जगमगै॥
नैनन को बहु रूपन ग्रसै। श्रीहरि की जनु मूरति लसै॥

इस उदाहरण में नोट करने की यह एक बात है कि 'भाँतिन भाँतिन सुंदर,' बनी राजसेवा के 'सुंदर' रूप से एकदम प्रलयाग्नि बन कर किस प्रकार पूर्वभाव को तिरस्कार करती हुई फिर, उसी भाव-विषमता की प्रणाली में, श्रीहरि का रूप ग्रहण कर लेती है। एक भाव से तत्काल उसके विरोधी दूसरे भाव पर उतरना कितना सुखप्रद हो सकता है और उससे कितना पदार्थबोध हो सकता है, यह सोचने की बात है। विरोधाभास की एक करवट में फूलों का बग़ीचा किस प्रकार भाववैषम्य की भी परिधि लाँघ कर घोर जुगुप्सा का मूर्त रूप बन जाता है, यह नीचे के उदाहरण में देखा जा सकता है—

देखी बनवारी चंचल भारी तदपि तपोधन मानी।
अति तपमय लेखी गृहथित पेखी जगत दिगंबर जानी॥
जग जदपि दिगंबर पुष्पवती नर निरखि निरखि मन मोहै।
पुनि पुष्पवती तन अति अति पावन गर्भ सहित सब सोहै॥

बेपर की उड़ान का एक और उदाहरण नीचे दिया जाता है—

भृकुटी विराजत स्वेत, मानहु मंत्र अद्भुत साम के।
जिनके विलोकत ही बिलात अशेष कार्मुक काम के॥
मुख बास आस प्रकास केशव भौंर भीरन साजहीं।
जनु साम के शुभ स्वच्छ अच्छर ह्वै सपच्छ विराजहीं॥

भरद्वाज की सफेद भौंहें सामवेद के मंत्र हो गईं। सामवेद के सफेद मंत्र कभी देखे होंगे तो अवश्य अन्दाजा हो जाएगा कि वे भौंहें कैसी थीं। भरद्वाज के मुख की सुगंध से भौंरे घिर घिर कर आ रहे थे जो सामवेद के मंत्रों के अक्षर थे। लाला भगवानदीन जी ने इस छंद मे उत्प्रेक्षा अलंकार माना है। परन्तु केशवदास जी शायद अकेले उत्प्रेक्षा की ही बात नहीं सोचते थे, उनके मन में शायद सांग-रूपक की वासना भी तड़प रही थी जिससे 'काम के कार्मुक' और 'मुखवास' के भिन्न मार्ग मे जाकर भी एक बार मुड़ कर फिर साममंत्रों के अक्षरों की ओर देख लिया, परंतु 'काम के कार्मुक' और 'मुखवास' के व्यवधान तथा उपमेय भौंह के निरंग होने के कारण सांग-रूपक बन नहीं सका। इसके अतिरिक्त उक्त छंद में यद्यपि विरोधाभास तो नहीं है, पर भाववैषम्य पैदा करने वाला प्रकृत विरोध अवश्य है। सफेद मंत्रों के काले काले अक्षर! और वे उड़ भी रहे हैं, मंत्रों (भौंह) से एकदम तटस्थ होकर। मुश्किल यह है कि इसे असंगति भी तो नहीं कह सकते। केशवदास के छंदो मे इस तरह का बहु-अलंकार संभ्रम प्रायः देखने को मिलता है।

कभी कभी यह भी देखने में आता है कि अलंकार-तुमुलता न होने पर भी, तथा किसी उक्ति के अवसरानुकूल होते हुए भी; दूरध्वनि अच्छी नहीं निकलती। लव और कुश के द्वारा राघवों

की सेनाओं का बुरी तरह संहार होने पर भरत राम से कहते हैं—

बालक रावण के न सहायक, ना लवणासुर के हित लायक।
है निज पातक वृक्षन के फल, मोहत हैं रघुवंशिन के बल॥

यह सही है कि भरत नहीं जानते कि बालक (लव कुश) राम और सीता के पुत्र हैं, परन्तु केशव और रामचन्द्रिका के पाठक इस बात को अवश्य जानते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत शीघ्र ही लव-कुश की असलियत खुलने वाली भी है। ऐसी दशा में उन्हें किसी पात्र के मुख से 'निज पातक वृक्षन के फल' कहलवाना भावी के संबंध में एक अशुभता और कौलीन की अव्यक्त ध्वनि देना है। और दुर्भाग्य से भाग्य का कटु व्यंग्य इस ध्वनि को सहारा दे रहा है, क्योंकि वहाँ बाप और बेटों का प्रलयंकर युद्ध उपस्थित है। यदि ध्वनि में कुछ भी सचाई होती तो हम उसी को पूर्व-सूचना (Dramatic Irony) के रूप में काव्यकार का गुण मान सकते थे।

पांडित्य-प्रदर्शन के लोभ के कारण अलंकार-तुमुलता, उसके लिए संगृहीत भिन्न भिन्न उपायों, तथा उससे पैदा होने वाले प्रथम दोष, भाव-वैषम्य, को हमने देख लिया। दूसरा भारी दोष जो उससे उत्पन्न होता है वह प्रबंध में देखने में आता है। रामचन्द्रिका के रचयिता होने के नाते केशवदास प्रबन्ध-कवि भी कहलाने का दावा कर सकते हैं। परन्तु भाव के प्रति उनकी अत्यंत उपेक्षा रहने से हमें उनके प्रबन्ध-काव्य में प्रबंध की हीनता दिखाई देती है।

पारिभाषिक संज्ञाओं में हम राम के अपनी पत्नी तथा पुत्रों से मिलन को काव्य का 'कार्य' कह सकते हैं और राम को 'फलागम' का अधिकारी या काव्य का नेता। सीता 'आलंबन' हैं। इस दृष्टि

से काव्य का स्थायीभाव 'रति' होगा और नायक 'धीरललित' या राम की लोकप्रसिद्ध विशेषताओं के कारण, 'धीरोदात्त'। धीरललितत्व या धीरोदात्तत्व का निर्णय 'अनुभाव' और 'संचारी' कराएँगे। इनके द्वारा पुष्ट होकर स्थायी 'रति' को 'शृंगार' रस की पदवी प्राप्त होगी।

केशव की प्रवृत्तियों के सहारे, संभव है, यह कह दिया जाय कि 'रामचन्द्रिका' शृंगारी काव्य है। उसमें 'पुष्पवती' वाटिका या कन्या के जैसे वर्णन जो हैं, इसलिए! परन्तु क्या इस ग्रंथ में 'शृंगार रस' भी है? शृंगार रस की पुष्टि के लिए नायक का स्थायी रतिभाव कहाँ है? सयोग के, या विप्रलंभ के, या पुनः संयोग के दिनों में राम अपने आलंबन के लिए किन किन भावपरंपराओं तथा चेष्टाओं में लीन होते दिखाई देते हैं? संक्षेप मे, फलस्वामित्व के लिए उनकी कितनी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और वे उसके लिए कितना उद्योग करते हैं?

इन सब का उत्तर तो हमको 'न'-कार मे ही मिलता है। रामचन्द्रिका के आकार का अधिकांश विभव, शोभा तथा पदार्थों आदि के वर्णनों मे ही अपनी सार्थकता प्राप्त करता है। चन्द्रिका के उत्तरार्ध का तीन-चौथाई भाग रामचन्द्र जी की दैनिकचर्या—उनका उठना-बैठना, भोजन करना, सोना, जागना, कुल्ला करना आदि—रूपशोभा, ऐश्वर्य, स्त्रियों की जलक्रीड़ा, नखशिख और षट्ऋतुओं आदि के वर्णन में ही खप जाता है जिसमें सीता और राम के अपने समागमसुख का कोई दर्शन नहीं होता। इन सब के वर्णनों में रम कर पाठक के लिए यह अनुमान करना कि अभी फलागम में देर है और कथा का कुछ हिस्सा बाकी है, बड़ा कठिन

है। भ्रम तो यह होता है कि फलागम हो चुका और अब उसके उपलक्ष्य में कवि उत्सव मना रहा है। राम को भूल कर कवि अपने विलासों में मग्न हो गया है। राम जैसे मनुष्य ही नहीं है, उनके हृदय ही नहीं है, वे केवल यंत्रवत् हैं जिनसे काम लेने की जरूरत कवि को कभी कभी अपनी उपमान कल्पना या राजस वासना के विनोद के लिए पड़ जाती है।

जिसे भारतीय परिभाषा में संचारी आदि कहते हैं उसे ही आजकल की बोली मे अन्तर्जगत् कहा जाता है। अन्तर्जगत् के इस अभाव में स्थायीभाव का ख्याल, और फलतः नेता और उसके आलंबन का भी ख्याल, एक मज़ाक हो जाता है। फिर अन्तर्जगत् के अभाव से ही उद्दीपनरूपी बाह्यजगत् भी तिरोहित हो जाता है। रामचन्द्रिका में जो दो चार तरह के दृश्य, प्राकृतिक स्थल या परिस्थिति आदि आए हैं वे वस्तुतः मुख्य पात्रों के लिए उद्दीपन-रूप में नही बल्कि कवि की चमत्कार-कल्पना के ही उद्दीपन के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अलंकरण-शक्तिद्योतन के अवसर केशवदास को रूप या पदार्थों का वर्णन के समय मिलते हैं। ये वर्णन प्रायः चित्रण के रूप में नहीं हैं और न वे रूपो या पदार्थों के किसी व्यापक या व्यक्तिगत अभिप्राय को ही प्रकट करते हैं। केशवदास ने उनको केवल अपने उपमानो की कुश्ती के अखाड़े के रूप मे अंगीकार किया है। पीछे आए हुए उदाहरण इस बात का प्रमाण हैं। वास्तव मे, नायक की उद्देश्यहीनता के कारण चन्द्रिका भी, कथा के रूप में, उद्देश्यहीन है। वह केवल एक उदाहरण ग्रंथ की भाँति है जिसमें केशवदास ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि वे कितने प्रकार के छंद बना सकते थे तथा अलंकारों अथवा अलंकार-

संकरों में अपनी कल्पना कहाँ तक दौड़ा सकते थे।

उद्देश्यहीनता, अथवा, दूसरे शब्दों मे, अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् के अभाव के कारण रामचन्द्रिका की कथा मे कहीं भी आगे बढ़ने की, अग्रसर होने की, सामर्थ्य नही दिखाई देती। इसमें कार्यव्यापार बिलकुल नहीं है। केशवदास के लम्बे-चौड़े वर्णनो के बाद जहाँ कही व्यापार दिखाने का अवसर आता है वहाँ वे एकदम बड़ी सफाई से पत्ता काट जाते हैं। उदाहरण के लिए हम ग्रन्थ के प्रारंभिक भाग को ही देख सकते हैं। विश्वामित्र यज्ञ-रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को माँगने दशरथ के पास जाते हैं। वहाँ पहुँचाते पहुँचाते केशव ने उन्तालीस छंदो मे उन्हे अयोध्यापुरी और राजदरबार की सैर कराई है। इसके बाद चौदह छंदो मे राजा, विश्वामित्र और वसिष्ठ का वार्तालाप है। फिर छै-सात छंदो मे राम-लक्ष्मण तपोवन की शोभा देखते हैं। शोभा देख चुकने पर जब रक्षा के हेतु बैठते हैं तो ताड़का आ जाती है जिसे वे स्त्री समझ कर नही मारना चाहते। पर खैर, ऋषि के समझाने से राम उसे मारते हैं, और एक ही छंद मे उसके साथ ही साथ, मारीच आदि अन्य दैत्यो को भी मार देते हैं, यद्यपि अन्य दैत्य उत्पात करने के लिए यज्ञ-भूमि मे आए तक नहीं है। और बस, यह हुआ कि अगले ही छंद मे दोनो भाई जनक के धनुप-यज्ञ की कथा सुनने लगे। अयोध्याकाड के आरंभ मे दशरथ ने इरादा किया कि राम को राज्य दे दूँ। इसके आगे ही छंद मे कैकेयी ने झट निश्चय किया कि राम को वन मे भेजूंगी और उसने चटपट राजा से अपने दो वर माँग लिए। तब तत्काल ही 'उठि चले विपिन कहँ सुनत राम।' पर उठि चले के बाद भी राम 'विपिन

कहीं न जाकर अपनी माता को एक लंबा-चौड़ा उपदेश देने पहुँच जाते हैं और तदनन्तर क्रमशः सीता और लक्ष्मण को घर पर ही रहने की शिक्षा देते हैं। पर हाँ, राम-लक्ष्मण-संवाद सुनते ही सुनते हमे एकाएक दीख पड़ता है कि 'विपिन मारग राम विराजहीं, सुखद सुंदर सोदर भ्राजहीं।' इस बार ये सचमुच चले गए हैं।

लगभग सर्वत्र ही इस प्रकार जब कभी किसी लंबे-चौड़े वर्णन या संवाद के बाद कथा कहने का मौका आता है तो केशवदास जी व्यापार की एक संक्षिप्त सी सूचनामात्र देकर फ़ौरन अलंकार-क्रीड़ा की किसी दूसरी रंगस्थली में जा उतरते हैं। कथा उनकी दृष्टि मे नितान्त गौण चीज है। प्रसंगो को जोड़ने के लिए वे सूचना से उतना ही काम लेते हैं जितना कि वस्तु-सार (Synopsis) लिखने में संयोजक या विभाजक रेखाओं (hyphens और dashes) से लिया जाता है।

व्यापार रूप मे अन्तर्जगत् की कोई विशेष छाया रामचंद्रिका मे न होने के कारण केशवदास के पात्रों मे चरित्र-चित्रण की किसी विभूति को पाने की भी आशा नहीं करनी चाहिए। वाणी के रूप मे उनके पात्र अवश्य अपना कुछ परिचय देते हैं, परन्तु वह उतनी देर का परिचय है जितनी देर कि वे बातचीत करते हैं। इसका नतीजा कभी कभी यह होता है कि जब कोई पात्र किसी दूसरी जगह अपना उसी तरह परिचय देता है तो उसके दोनो स्थानों के परिचयो मे कुछ फर्क पड जाता है। पहले के राम बाद में सीता को निर्वासित करते समय अपने भाइयों को इस तरह डाँटते हैं मानो वे उनके कोई अति क्षुद्र नौकर हो, या

फिर मानों राम को सीता से ही कोई द्वेष हो और वे उनके लिए किसी की भी सिफ़ारिश न सुनना चाहते हों। भरत जब तर्क द्वारा उन्हें सीता की पवित्रता आदि की बात समझाते हैं तो रामचन्द्र जी उत्तर देते हैं "हाँ भाई, जो कुछ तुम कहते हो वह बिलकुल सच है; परन्तु मेरी तो इस समय कुछ ऐसी ही इच्छा है (अर्थात् सीता को निकाल देने की)।" शत्रुघ्न के साथ तो वे इतनी भी भलमंसाहत से पेश नहीं आते। चुप करने के लिए सीधे-सीधे कह देते हैं—

तुम बालक हो बहुधा सब में, प्रति-उत्तर देहु न फेरि हमें।
जु कहैं हम बात सो जाय करो, मन मध्य न और विचार धरो॥

शत्रुघ्न के उपरान्त लक्ष्मण को तो जबान खोलने तक की आज्ञा नहीं दी गई। भरत और शत्रुघ्न के चले जाने पर लक्ष्मण जी कहीं उन्हीं की तरह राजा को समझाने की धृष्टता न करने लगें, इस आशंका से उन्हें तत्काल ही आदेश, और आदेशभंग की दशा में दंडव्यवस्था, दोनों, सुना दिए गए—

सीतहि ले अब सत्वर जैये, राखि महावन में फिरि ऐये।
लक्ष्मण जो फिरि उत्तर दैहो, शासनभंग को पातक पैहो॥

क्या ये वही राम हैं जिन्होंने लक्ष्मण के लिए विलाप किया था अथवा जिन्होंने कुत्ते तक की फ़रियाद सुन कर उसी के द्वारा ब्राह्मण को दंड दिलाया था। संभव है शत्रुघ्न के एक कटु व्यंग्य के कारण वे इस समय राजप्रभुत्व से काम ले रहे हों। परन्तु उनके राजशक्ति के ज्ञान का केवल यही एक अवसर देखने में आता है, और वह भी सीता-निर्वासन के मामले में, जिसके लिए उनके पास इसके सिवा और कोई दलील नहीं है कि 'मेरो कछु अबहिं इच्छ यहै'।

चरित्र-चित्रण के सिलसिले मे केशव के संवादो का भी जिक्र आगया है। इसमे संदेह नहीं कि कौतूहल बढ़ाने, सजीवता प्रदान करने तथा चरित्र-चित्रण और व्यापार को अग्रसर करने मे संवादों अथवा कथोपकथन का विशेष उपयोग रहता है, परन्तु राम-चन्द्रिका में व्यापार और चरित्र-चित्रण का अभाव होने के कारण उसके संवाद अपनी परिमाण-सीमा से बहुत आगे बढ़ गए हैं तथा, वर्णनों की भाँति, वे ग्रंथ के भीतर उसके एक प्रकार के स्वतंत्र से अंग मालूम होते हैं। सीता-स्वयंवर के समय रावण-बाण-विवाद बिलकुल फ़ालतू, अप्रासंगिक है। इसी तरह रावण-अंगद-संवाद भी, मालूम होता है, केवल विवाद दिखाने के लिए ही रक्खा गया है।

केशवदास अपने संवादो को व्यर्थ ही बढ़ा देते हैं। रावण और बाण का संवाद छब्बीस छंदों मे है और निरुद्देश्य है। दोनों निरर्थक ही आपस मे झगड़ते हैं, केवल एक दूसरे को अपने से हीन बताने के लिए, परन्तु उस समय की परिस्थिति पर या संपूर्ण कथा की किसी भी परिस्थिति पर उनकी हीनता अहीनता के इस प्रख्यापन का कोई असर नहीं पड़ता। बाण का तो वस्तुतः कथा से भी कोई संबंध नहीं है। फिर, हम यह भी देखते हैं कि किसी विवाद को बहुत अधिक बढ़ा कर केशव उसका सफल, स्वाभाविक, अवसान नहीं करा पाते। छब्बीस छंदो तक वाग्युद्ध में रत रह कर सत्ताईसवें छंद में रावण कहता है कि अब तो 'जब लौं न सुनौं अपने जन को, अति आरत शब्द हते तन को' तब तक यहाँ से टलूँगा नहीं। एक तरफ़, अठाईसवें छंद मे, 'आरत शब्द अकाश पुकारयो', जिसे सुन कर रावण 'छोड़ि स्वयंवर

जात भयो तव' मानों कहीं बैठा हुआ कोई राक्षस अपने मालिक से सिखाया जाकर टेलीफ़ोन द्वारा इन लोगों की बातचीत सुन रहा था और ऐन मौका देख कर वह चिल्ला पड़ा। रावण-अंगद-विवाद का भी अन्त अकस्मात् ही हो जाता है। रावण के साथ बहुत देर तक घट-बढ़ बातें करते रहने के पश्चात् बिना किसी पूर्वाभास के ही 'अंगद रावण को मुकुट ले करि उड़ो सुजान।' इस तरह के विवादपूर्ण संवादों मे हम प्रायः कहावत मे आई हुई बनियों की लड़ाई का सा स्वरूप देखते हैं। वाण और रावण दोनो घंटा भर तक एक दूसरे पर कीचड़ उछालते हुए भी बराबर बग़लें झाँकते से ही नज़र आते हैं। धनुष-भंग के बाद परशुराम के क्रोध मे परशुराम की भी कुछ ऐसी ही बग़लें झाँकने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

केशवदास की कविता के ये सब दोष, जैसा कह आए हैं, उनकी पाण्डित्य-प्रदर्शन लालसा के ही कारण उत्पन्न हुए हैं, जिसमे उनका ध्यान बात की या वस्तु की केवल कृत्रिम सुन्दरता की ओर ही जा पाया। यह दरबारी जीवन, चाटुवाद तथा ऊपरी तड़क-भड़क के वातारण का अवश्यंभावी प्रभाव था। चाटुवाद में स्वयं निर्व्याजता हो सकती है परन्तु चाटुपाद द्वारा इतर बातों के कथन में वह असंभवप्राय है। बीरबल को सुनाए गए छंदो में अत्युक्ति की हद हो जाने पर भी उनका कोई अर्थ निकलता है, उनका कुछ असर भी होता है। परन्तु यदि बीरबल को, चाहे कितनी ही खूबसूरती के साथ, उल्लू की उपमा दी जाती तो वे प्रसन्न न होते, केशवदास ऐसी उपमा देते भी नहीं, क्यों कि उस समय उन्हे अपने शब्दों की सार्थकता पर ध्यान रखना आवश्यक

था। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ जीवन् की वास्तविक परिस्थितियों में केशवदास बोलते हैं वहाँ पर निरर्थक नहीं हो सकते, मन के साथ उनकी बुद्धि और कुछ उनकी हृदयवृत्ति भी काम करती है।

दरबारी जीवन की नकली एकरूपता मे, उनकी अपनी हृदय वृत्ति की क्रीड़ा की परिस्थितियाँ उन्हे कम मिलती होंगी, और जो मिलती होंगी वे अल्पकालिक होती होंगी। इस प्रकार का वातावरण वस्तुतः स्फुटोक्तियों के अधिक अनुकूल है जिसमें मिथ्या प्रयास का अवसर काफी रहते हुए भी प्रबंध-रचना की अपेक्षा कम ही रहता है। प्रबन्ध-रचना दीर्घकालिक वस्तु है और केशवदास के मानसिक अभ्यास को इतनी मोहलत कहाँ रही होगी कि वे कथाप्रसंगो के पारस्परिक सम्बन्धो तथा उनके उद्देश्यो की ओर ध्यान देने अथवा उन्हें याद रखने की चेष्टा कर सकें। अतः बहुत से दूषण जो एक कथा के भीतर बहुत बुरे मालूम होते हैं, सम्भव है, फुटकर वाक्य में उतने अधिक खटकनेवाले न हो, क्योंकि फुटकर उक्ति मे उसके साथ पात्र, प्रसंग तथा वक्ता श्रोता के औचित्यानौचित्य की आवश्यकताएँ कम या, कभी कभी नहीं, रहती हैं। उदाहरण के लिए, उल्लूवाली उक्ति मे से प्रसंग हटा कर राम, हनुमान् और सीता के व्यक्तित्व को हम भूल जाएँ तो वह किसी ऐसे स्त्रैणवृत्ति नायक का भी वर्णन समझी जा सकती है जिसके प्रति कवि की हमदर्दी के साथ साथ, शायद उपहास करने की रुचि रही हो। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि फुटकर उक्ति साधारणतः क्षणिक प्रभाव की चीज़ होती है और उससे उत्पन्न हुई ग्लानि बाद की किसी ज़रा सी भी अच्छी उक्ति से दूर हो सकती है।

केशवदास की जो थोड़ी-बहुत फुटकर रचनाएँ मिलती हैं वे उनकी ग्रन्थ-रचनाओं से सामान्यतः अच्छी हैं। 'रामचन्द्रिका' के भी अलग अलग टुकड़े कर यदि हम उन्हें प्रसंग से विहीन करके फुटकर रचनाओं के रूप मे ही पढ़ेंगे तो कदाचित् उनके दूषणों की गम्भीरता भी कुछ कमी हो जायगी।

एक बात ध्यान में रखने की यह भी है कि प्रत्येक मनुष्य में हृदय का कुछ न कुछ दृश्य अंश अवश्य विद्यमान रहता है, भले ही ऊपर की कृत्रिमताओं और पाबंदियों ने उसे कितना भी अन्तर्निलीन क्यों न कर रक्खा हो। केशवदास का हृदय भी हम को कभी कभी दिखाई दे ही जाता है, और बड़े सुन्दर रूप में। विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को अपने साथ ले चले। उस समय राजा दशरथ के अनुभव बड़े ही हृदयस्पर्शी हैं—

राम चलत नृप के युग लोचन, बारि भरित भये बारिद रोचन।
पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं, केशव उठि गये भीतर भौनहिं।

लव कुश द्वारा रघुवंशी सेनाओं के घोर संहार का कोई उपाय न बन पड़ते देख राम के विवशता-मिश्रित ग्लानि, दैन्य और विस्मय के सम्मिलित भावों की सूक्ष्म व्यंजना उनके इन थोड़े से शब्दों में कितनी खूबसूरती के साथ की गई है—

कोऊ द्वै मुनिसुत काकपच्छयुत सुनियत है तिन मारे।
यहि जगतजाल के करम काल के कुटिल भयानक मारे।

सीता-निर्वासन के खेद से हर किसी का दिल पका हुआ है। लव-कुश के सामने किसी की भी नहीं चलती। भरत हनुमान् जी से कहते हैं कि तुमने पहले तो इतना बड़ा समुद्र लाँघा था, अब इस युद्ध की नदी को क्यों नहीं लाँघते। तब हनुमान् उत्तर देते हैं—

सीतापद सनमुख हुते गयो सिन्धु के पार।
विमुख भये क्यों आहुँ तरि सुनो भरत यहि बार॥

ऐसे स्थलो मे हृदय की पूर्ण वृत्ति का सहयोग होने के कारण मनोवैज्ञानिक तथ्य भी पूर्ण ही है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का स्वरूप धनुषभंग करनेवाले राम की शोभा को देखकर परशुराम की नीचे दी हुई भावश्रृंखला तथा वितर्कपद्धति में कितनी सुँदरता से दिखाया गया है—

अमल सजल घनस्याम वपु केशोदास,
चन्द्र हूँ ते चारु मुख सुषमा को ग्राम है।
कोमल कमलदल दीरघ विलोचननि,
सोदर समान रूप न्यारो न्यारो नाम है॥
बालक विलोकियत पूरण पुरुष गुन,
मेरो मन मोहियत ऐसो रूप धाम है।
वैर जिय मानि वामदेव को धनुष तोरो,
जानत हौं वीस बिसे राम भेस काम है॥

इन उदाहरणों से यह भी पता लगेगा कि इनमें अलंकार ठोकने का कोई विशेष प्रयास नहीं। ऐसे स्थलों पर अधिकांश उक्तियाँ तो अनलंकृत ही हैं और जहाँ अलंकार दिखाई भी देता है वहाँ वह स्वाभविक भाव प्रवाह में ही आया हुआ मालूम होता है।

परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि इरादा करके लाए गए सब ही अलंकार-प्रयोग खराब हैं। जहाँ अपने कल्पनास्थल के मूल्य को समझ कर कवि ने कल्पना की है वहाँ उनके अलंकार भी भाव-प्रेरित तथा दृश्य चित्र को उपस्थित करने वाले हुए हैं। वसंत ऋतु में बोलने वाले पक्षियों को अपनी बोली द्वारा युद्ध का आह्वान

करने वाले वसंत सेना के योद्धा बनाना उचित ही हुआ है, यथा—

फूली लवंग लवली लतिका विलोल,
भूले जहाँ भ्रमर विभ्रम मत्त डोल।
बोलैं सुहंस शुक कोकिल केकिराज,
मानों वसंत भट बोलत युद्ध काज ॥

कहीं कहीं उपमान गुणव्यंजक भी हुए हैं, यथा—

अमल कपोलै आरसी, बाहुइ चंपकमार।
अवलोकनै विलोकिये, मृगमदमय घनसार ॥

नीचे के उदाहरण मे उत्प्रेक्षाओं द्वारा दृश्यचित्र-प्रभावोत्पादक हो गया है—

राघव की चतुरंग चमू चपि धूरि उठी जलहू थल छाई।
मानो प्रताप हुतासन धूम सो केशवदास अकाश न माई ॥
मेटि के पंच प्रभूत किधौं विधि रेणुमयी नवरीति चलाई।
दुःख-निवेदन को भुव भार को भूमि किधौं सुरलोक सिधाई ॥

क्रियापूर्ण दृश्यचित्रण के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। एक युद्ध का वर्णन है, दूसरा स्त्रियो के जलविहार का—

(क) अति रोष रसे कुश केशव श्रीरघुनायक सों रणरीति रचैं।
तेहि बार न बार भई बहु बारन खर्ग हने, न गिनैं बिरचैं ॥
तहँ कुंभ फटैं गजमोति कटैं ते चले बहि श्रोणित रोचि रचैं।
परिपूरन पूर पनारन ते जनु पीक कपूरन की किरचैं ॥

(ख) एक दमयंती ऐसी हरैं हँसि हंस वंश,
एक हंसिनी सी बिसहार हियो रोहियो।
भूषण गिरत एकै लेती बूड़ि बीचि बीच,
मीनगति लीन हीन उपमान टोहियो ॥

एकै मत कैकै, कंठ लागि लागि बूड़ि जात,
जलदेवता सी दिवि देवता विमोहियो।
केशोदास आसपास भँवर भँवत जल,
केलि में जलजमुखी जलज सी सोहियो॥

कहीं कहीं विशेष भावोत्पादन के लिए प्रयुक्त न होकर भी कल्पना मनोहारी और चमत्कार-वर्धक है, यथा—

(क) फूलन के विविध हार घोरिलन ओरमत उदार।
बिच बिच मणिश्याम हार, उपमा शुक भाषी॥
जीत्यो सब जगत जानि, तुमसों हिय हार मानि।
मनहु मदन निज धनु तें गुन उतारि राखी॥

(ख) राजभौन आस पास दीपवृक्ष के विलास,
जगतज्योति यौवन जनु ज्योतिवंत आये॥

प्रभाव का वर्णन नीचे के छंद में बड़ा अच्छा है, जिसमें केशवदास का थोड़े से हँसने का भी मन कर आया है। यह प्रभाव परशुराम के आने के बाद का है—

मत्त दंति अमत्त ह्वै गये देखि न गाजहीं।
ठौर ठौर सुदेश केशव दुंदुभी नहिं बजहीं॥
डारि डारि हथ्यार सूरज जीव लै लै भज्जहीं।
काटि कै तनत्रान एक हि नारि भेषन सज्जहीं॥

(यद्यपि प्रसंग के औचित्य को देखते हुए राम की फ़ौज का यह वर्णन अच्छा नहीं कहा जा सकता।)

केशवदास के संवाद, जो कथाप्रसंग में प्रायः उखड़े-उखड़े से प्रतीत होते हैं, अपने स्वतंत्र रूप में सचमुच बड़े मनोरंजक और कौतूहल-वर्धक हैं। रावण और बाण का 'बगलें झाँकना'

भी स्वतंत्र संवाद में मनोविनोद और चरित्राध्ययन की एक चौ
है। केशव के संवादों में नाटकीय प्रभाव पूर्ण रूप में मौजू
रहता है। उनमे चटपटापन, चुलबुलापन, व्यंग्य और वाग्वै
दग्ध्य के समस्त गुण एक साथ दिखाई देते हैं। सर्वश्रेष्ठ संवा
वे हैं जो राम के वीरों और लव-कुश के बीच मे होते हैं। लव
कुश के वाक्य प्रायः छोटे छोटे, तथ्यदर्शी और कार्यक्षिप्रता
प्रेरक हैं। वे चरित्रचित्रण मे भी सहायक होते हैं, उनके द्वा
लव-कुश का बड़ा अच्छा चरित्रचित्रण होता है; लवकुश पा
को देख कर उसके उपयुक्त ही शब्द बोलते हैं और बहुत सी व्य
बातें न कर तत्काल कार्य में संलग्न हो जाते हैं। रामचन्द्रिका
यदि कही कथा दीखती है, कहीं भावुकता सरलता कौतूहल
प्रवाह दिखाई देता है, कहीं स्वाभाविक वस्तुवर्णन और चरि
चित्रण है, तो वह लव-कुशयुद्ध में। रामचन्द्रिका का सर्व
श्रेष्ठ अंश इस युद्ध का वर्णन ही है। उदाहरण देने के लि
लगभग उस सारे अंश को ही उद्धृत करने की आवश्यकता पड़े
जिसके लिए यहाँ स्थान की कमी है, उसे रामचन्द्रिका मे ह
पढ कर देखना चाहिए।

केशवदास की विशेष सामर्थ्य राजवैभव के वर्णनों मे देख
जाती है। राजदरबारों तथा बड़े-बडे राजकीय पुरुषों के संपर्क
रहने के कारण राजमर्यादा, राजप्रभुता तथा राजनीति का ज्ञा
उनको अवश्य अच्छा रहा होगा। रावण के चरित्र में राज
नीतिज्ञता के दो स्थानों में दर्शन होते हैं। बाण के साथ अपनी
हुज्जतबाजी के समय शिवधनुष को उठाने मे असमर्थ होकर वह
बाण से कहता है कि धनुष तो पुराना और जीर्ण है, मैंने अन्दाज़ा

कर लिया और मैं पल-भर में इसे उठा लूँगा; मगर ज़रा तुम भी आजमाइश कर लो —

धनु अति पुरान लंकेश जानि, यह बात बाण सों कही आनि।
हौं पलक माहिं लैहौं चढ़ाय, कछु तुमहूँ तो देखो उठाय ॥

उसकी राजनीतिज्ञकता का दूसरा अवसर वहाँ है जहाँ वह दूत अंगद को राम की तरफ़ से फोड़ने की कोशिश करता है। अंगद से वह कहता है—

नील सुखेन हनू उनके नल और सबै कपिपुंज तिहारे।
आठहु आठ दिसा बलि दै अपनो पदु लै पितु जा लगि मारे॥
तोसे सपूतहि जाय कै बालि अपूतन की पदवी पगु धारे।
अंगद संग लै मेरो सबै दल आजहिं क्यों न हतै बपुमारे॥

जब वह संधि की शर्तें पेश करता है तो भी दूरँदेशी में अंगद को अपनी तरफ मिलाने की चेष्टा में अपनी नीतिकुशलता को दृढ़ रखता है। उसकी शर्तें हैं—

देहि अंगद राज तोकहँ मारि बानरराज को।
बाँधि देहि बिभीषणै अरु फोरि सेतुसमाज को॥
पूँछ जारहिं अक्षरिपु की अरु पायँ लागहिं रुद्र के।
सीय को तब देहुँ रामहिं पार जायँ समुद्र के॥

राजप्रभुता की मर्यादा का ध्यान केशव को कितना इसका अनुमान नीचे के उदाहरण से किया जा सकता है। रावण के दरबार में अंगद के पहुँचने पर प्रतीहार प्रभाव के लिए ब्रह्मा आदि को इस प्रकार डाँटता है—

पढ़ौ बिरंचि मौन वेद जीव सोर छंडि रे।
कुबेर बेर कै कही न यक्ष भीर मंडि रे॥

दिनेश जाय दूरि बैठि नारदादि संगही।
न बोलु चंद मंदबुद्धि इन्द्र की सभा नहीं।

इस 'इन्द्र की सभा नहीं' पर अवश्य गौर करना चाहिए। ओजपूर्ण वर्णनों के दो-एक उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं। सब से ज़्यादा वे लव-कुशकांड में देखे जा सकते हैं।

केशव के सब से प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा, संदेह और श्लेष हैं। इन तीनों के उदाहरण आगए हैं। हमने केशव के उचित तथा अनुचित दोनों प्रकार के अलंकार-प्रयोग देख लिए हैं। एक अन्य अलंकार परिसंख्या का इन्होंने, बहुत तो नहीं पर, अच्छा उपयोग किया है, यद्यपि वैसे तो इन्होने अपने परिचित सब ही अलंकारों से काम लिया है। परिसंख्या का एक उदाहरण दिया जाता है—

मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।
होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय॥
दुर्गति दुर्गन ही जु कुटिल गति सरितन ही में।
श्रीफल को अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में॥

केशव की भाषा बुन्देलखंडी मिली हुई ब्रजभाषा है। कहीं-कहीं उसमें संस्कृत के विभक्त्यादियुक्त प्रयोग भी आगए हैं; जैसे 'लीलया' 'चलंति' आदि। बीच बीच में दो एक जगह संस्कृत के श्लोक भी बना कर रख दिए हैं तथा एकाध स्थान पर हिन्दी क्रिया के साथ शेष छंद में संस्कृत-नियमानुशासित पदावली का प्रयोग कर दिया है। व्याकरण का बहुत जगह उचित पालन नहीं किया गया है, जैसे—'करै साधना एक परलोक ही को,' अथवा 'राज देहु जो वाकी तिया को।' परन्तु इन बातों को छोड़कर, केशव की

भाषा में अधिकतर माधुर्य और प्रसाद गुणों का बड़ा अच्छा सम्मिश्रण देखने को मिलता है और कहीं-कहीं नाद-सौंदर्य भी बड़ा मनोहर है। नीचे के उद्धरण में इन सब गुणों का उदाहरण मिलेगा—

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
मंजुल वंजुल लकुच बकुल कुल केर नारियर।
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।
सारी शुककुल कलित चित्त कोकिल अति मोहैं॥
शुभ राजहंस कलहंस कुल, नाचत मत्त मयूर-गन।
अति प्रफुलित फलित सदा रहे, केशवदास विचित्र घन॥

हम देखते हैं कि केशवदास मे कवित्व की दोनों प्रकार की सामर्थ्य थी—भावात्मक भी और व्याख्यात्मक भी। परन्तु केशवदास का, या हिन्दी साहित्य का, दुर्भाग्य था कि उनको परिस्थितियाँ विपरीत मिलीं, जिनके कारण उनके यथार्थ गुण तो दब गये और कृत्रिम गुणाभासों की वृद्धि हो गई। उनके प्रच्छन्न गुणों को देखते हुए, उनकी 'महाकवि' की पदवी का अनुमोदन किया जा सकता है तथा, उनके वैविध्य को देखते हुए, शायद 'आचार्यत्व' का भी। परन्तु यदि सब बातो पर एक साथ विचार किया जायगा तो हिन्दी की लम्बी कवि-सूची मे उन्हे शायद मध्यम श्रेणी का ही कवि गिना जा सकेगा। उनकी पांडित्य-प्रदर्शन-लालसा के कारण उनकी रचनाओं मे जो अति-क्लिष्टता आगई है उससे उन्हे 'क्लिष्ट कविता का प्रेत' कहा जाता है। किसी ने यह भी कहा है कि यदि किसी कवि को भेंट न देना चाहो तो उससे केशव की कविता का अर्थ पूछो—

"कवि को देन न चहै बिदाई। पूछै केशव की कविताई।"

कदाचित् इसी कारण केशव की कविता के अध्ययन का भी समर्थन किया जा सकता है, क्योंकि केशव को अच्छी तरह पढ़ लेने के बाद पुरानी कविता में प्रवेश करने का मार्ग बहुत कुछ सुगम हो सकता है।

कविवर बिहारीलाल

बिहारीलाल जी का जन्म संवत् १६६० के आसपास ग्वालियर मे हुआ था। ये माथुर ब्राह्मण थे और कहा जाता है कि प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र थे। परन्तु मतान्तर के अनुसार ये केशवदास के शिष्य बताए जाते हैं। इनका बचपन बुंदेलखंड में व्यतीत हुआ था और यौवन का समय ससुराल, मथुरा मे। इसके विषय में इनका दोहा है—

जन्म ग्वालियर जानिये, खंड बुँदेले बाल।
तरुनई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥

इनकी मृत्यु १७१६ संवत् के बाद, संभवतः १७२० में हुई।

ये जयपुर के राजा जयसिंह के कवि थे। जिस प्रसिद्ध दोहे से उन्होंने जयपुर दरबार मे प्रवेश हासिल किया, वह यह है—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥

उन दिनों महाराज जयसिंह अपनी अप्राप्तयौवना नई रानी में इतने लीन रहते थे कि महल के बाहर बिलकुल ही नहीं निकलते थे। बिहारीलाल के दोहे ने उनकी आँखें खोल दीं और

महाराज दोहे पर इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने बिहारीलाल को अपना राजकवि बना लिया। सुना जाता है कि ये जोधपुर और बूँदी भी गए थे; परंतु वहाँ ठहरे नहीं।

इनका एकमात्र ग्रंथ इनकी सतसई है जिसमें ७१९ दोहे हैं। केवल इन ७१९ दोहों की रचना करके ही बिहारीलाल ने हिंदी साहित्य में वह स्थान प्राप्त किया है जो तुलसीदास जी और सूरदास जी को छोड कर, ख्याति की दृष्टि से, शायद और तमाम कवियों से ऊँचा है। इस ग्रंथ ने जनता के साहित्यिक कौतूहल को इतना उत्तेजित किया कि इसकी तीस-चालीस टीकाएँ हो गई। अभी, पन्द्रह-बीस वर्ष पहले, सतसई को लेकर हिंदी के कुछ प्रमुख विद्वानों मे काफी बहसा-बहसी हुई थी जो कई वर्षों तक चली थी। इस रचना की उत्कृष्टता के बारे मे निम्नलिखित दोहा खूब प्रसिद्ध है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन के छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥

सतसई का प्रत्येक दोहा स्वतंत्र है, अतः यह मुक्तक काव्य है। इसमें शृंगार-रस प्रधान है, यद्यपि कुछ दोहे अन्य विषयों पर भी हैं। इनकी शृंगारी मनोवृत्ति के प्रमाण में दो दोहे उद्धृत किए जा सकते हैं—

(क) जौं न जुगति पिय-मिलन की, धूरि मुकुति-मुँह दीन।
जौ लहिये सँग सजन तौ, धरक नरकहू की न॥

(ख) ताहि देखि मन तीरथनि, विकटनि जाय बलाय।
जा मृगनैनी के सदा, बेनी परसत पाय॥

शृंगार के दोनों रूपों, संयोग और विरह, को लेकर बिहारी

ने बड़े चुभते हुए दोहे कहे हैं। वे हृदय पर तत्काल और बड़ा गहरा असर करते हैं। उनमे ध्वनि या व्यंग्य बहुत है, जिससे पाठक का कल्पना-कौतूहल एक साथ जागरित होकर, तृप्ति द्वारा आनंद में अपना अवसान करता है। काव्य में आनंद का स्वरूप कथन की रसात्मकता है जो विभाव अनुभाव आदि साधनो पर निर्भर रहती है। बिहारीलाल के दोहे इन्हीं साधन-रूप परिस्थितियों के वर्णन द्वारा रसानुभव कराते हैं। कहीं कहीं, बल्कि अधिकतर, ये परिस्थितियाँ स्वयं व्यंग्य होकर रस अथवा भाव की व्यंजना करती हैं। इस प्रकार कभी अनुभावो अथवा सात्विक चेष्टाओ द्वारा प्रसंग आदि की व्यंजना करके भावध्वनि कराई गई है, कभी प्रसंग द्वारा संचारियों की ध्वनि देकर भावभूमि तक पहुँचाया गया है, और कभी चित्र अथवा शोभा आदि का वर्णन करके यह उद्देश्य सिद्ध किया गया है। अनुभावों और सात्त्विक भावों का चित्रण में प्रायः स्वभावोक्ति का विलास देखने मे आता है, अन्यत्र श्लेष, अन्योक्ति, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति, विरोधाभास, असंगति आदि अलंकार माध्यम बनाए हैं। अनुभावों तथा सात्त्विक भावो के चित्रण मे मनोविज्ञान का गौरव देखने मे आता है जो बिहारीलाल की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का पता देता है। प्रसंग के संकेत द्वारा औत्सुक्य की ध्वनि देकर प्रेमातिशय की व्यंजना नीचे के दोहे मे अच्छी देखने को मिलती है, जिसमें मुहावरे ने भी अपना ठीक काम किया है—

जदपि तेज रौहाल बल, पलकौ लगी न बार।
तौ ग्वैंडों घर को भयो, पैंडो कोस हजार॥

प्रसंग के साथ सात्त्विक के द्वारा संचारी का व्यंग्य इस

उदाहरण में देखा जा सकता है—

नेक उतै उठि बैठिये, कहा रहे गहि गेहु ।
छुटी जात नह दी छिनकु, महदी सूखन देहु ॥

वस्तु द्वारा वस्तु तथा भाव की व्यंजना एवं वस्तु द्वारा विभावरूप रूपातिशय और तत्संबन्धी भाव की व्यंजना के क्रमशः उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(क) मोरचंद्रिका स्यामसिर, चढ़ि कत करत गुमान ।
लखबी पायन पर लुठति, सुनियत राधा मान ॥
(ख) लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे क्रूर ॥

इन उदाहरणों से हमे मालूम होगा कि व्यंजना की कई-कई सरणियों में एक साथ चल कर कवि हमको अन्तिम व्यंग्य, भावभूमि, पर पहुँचता है। परन्तु यह वात सर्वत्र ही नहीं है। कभी कभी अनुभावो अथवा सात्त्विकों से हम एक दम ही भाव को प्राप्त कर लेते हैं, जैसे—

भौंहनि त्रासति, मुख नटति, आँखिन सों लपटाति ।
ऐंचि छुड़ावति कर इंची, आगे आवति जाति ॥

इस उदाहरण मे स्वभावोक्ति द्वारा जो सात्त्विकी चेष्टाओं का चित्र उपस्थित किया गया है उसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेपण भी कितना मनोहर हुआ है। जिस मानसिक भाव का यहाँ पर लक्ष्य है उसमें 'त्रासति' 'नटति' आदि के कारण जहाँ एक ओर व्यंग्य मे स्पष्टता आ गई है वहीं पाठक की प्रत्यक्षीकरण की मानसिक क्रिया को एक प्रकार की द्रुतगति सी भी प्राप्त होती है जो उस क्रिया मे व्याप्तता लाकर पाठक को तत्काल भावमग्न करने मे

सहायक होती है। ऊपर दिए गए उदाहरणों में व्यंग्य भाव की प्राप्ति सरणियों की भी व्यंजना करके ही कराई गई है। इस पद्धति में प्रायः अध्याहार क्रिया द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का आश्रय लिया जाता है, जैसे ऊपर के 'लिखन बैठि' वाले उदाहरण में। बिहारी ने जहाँ जहाँ ऐसा किया है वहाँ अधिकतर वस्तुवर्णन स्वभावोक्ति, अन्योक्ति अथवा काकु के माध्यम से काम लिया है, जिसकी पद्धति लक्षणा की पद्धति है। लक्षणा की पद्धति अतिशयोक्ति मे बहुत अधिक देखने मे आती है। लक्षणा द्वारा ... व्यंग्य के दो एक उदाहरण नीचे द्रष्टव्य हैं—

रहौं गुही बेनी लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान ये, नीठि सुखाये बार॥

अलि इन लोयन को कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहै, तऊ न प्यास बुझाय॥

पलनि प्रगटि बरुनीनि बढ़ि, नहि कपोल ठहरायँ।
अँसुवाँ परि छतियाँ छनक, छनछनाय छपि जायँ॥

जहाँ रूप, शोभा ही साध्य है (विभावादि के रूप में, साधन के रूप में नहीं) वहाँ भी लक्षणा की पद्धति ही विशेषतः देखने में आती है और अतिशयोक्ति अथवा उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक आदि अलंकारों को माध्यम बनाया गया है, जैसे—

भूषनभार सँभारि है, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पायँ न धर परत, सोभा ही के भार॥

ललित स्याम लीला ललन, चढ़ी चिबुक छबि दून।
मधु छाक्यो मधुकर परयो, मनौ गुलाब प्रसून॥

भई जु तन छवि बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन।
अंग ओप आँगी दुरी; आँगी अंग दुरै न ॥
छप्यो छबीली मुख लसै, नीले अंचल चीर ।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर ॥

परन्तु अतिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा का प्रयोग विरहावस्था के वर्णन में वहुत अधिक हुआ है। ये सब प्रयोग लाक्षणिक हैं। परंतु कहीं अत्युक्ति की क्रिया को इतना ज़्यादा वढ़ा दिया गया है कि लक्षणा अपने काव्य के उद्देश्य में असफल सी हो जाती है। नीचे की उपमा में जो अत्युक्ति की गई है उससे अर्थवोध या काव्य का सौंदर्य ग्रहण करने में सहायता नहीं मिलती—

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति, किये नीठि ठहराइ ।
सूछम कटि परब्रह्म लौं, अलख लखी नहिं जाइ ॥

परंतु अन्यथा—करके मीढे कुसुम लौं गई विरह कुम्हलाइ ।
सदा समीपन सखिन हूँ, नीठि पिछानी जाइ ॥

वस्तुतः तो विरह-वर्णन मे भी जहाँ व्यंजना से ही काम लिया गया है वहाँ उक्ति अधिक मनोहर हुई है—

ललन चलन सुनि पलनु मैं, अँसुवा झलके आइ ।
भई लखाइ न सखिन हूँ, झूँठे ही जमुहाइ ॥

इसका कारण यही है कि व्यंजना-पद्धति में किन्ही विशेष मानसिक अथवा कायिक अवस्थाओं का एक चित्रण सा उप-स्थित होकर मनोवैज्ञानिक व्याख्या पाठक की सहानुभूति को आकर्पित करके भाव-सान्निध्य को अधिक सरल तथा उपभोग्य बना देता है। लक्षणा में पाठक की उपपत्ति पहले विपरीत मार्ग का अनुसरण करने के बाद कथन के लक्ष्य को प्राप्त होती है।

वाच्य का तिरस्कार उसकी पहली शर्त है। वैसे काम तो लक्षणा से सब ही जगह लिया जाता है—विशेषतः अलंकारों में—परन्तु इसका बढ़िया और सरल उपयोग हँसी-मजाक, व्यंग्य, उपालंभ आदि की रचनाओं में शायद ज्यादा अच्छा होता है। सूरदास के 'भ्रमरगीत' की अधिकांश उक्तियों से इसका अंदाजा किया जा सकता है। इसका यह मतलब नहीं है कि 'भ्रमरगीत' के किसी पद की सारी पद्धति ही लक्षणा की है, क्योंकि लक्षणा तो हमेशा साधनमात्र होती है। व्यंग्य भाव अथवा अवस्था का अधिक चुभता हुआ प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रारंभिक सरणियों में ही इस का कार्य होता है। लक्षणा का साधनरूप में उपयोग करना ही ठीक है, परन्तु उसे घसीट कर साध्य के नज़दीक तक ले जाने से काम ख़राब होता है। इसका उदाहरण "सूक्ष्म कटि परब्रह्म लौं" में हम देख सकते हैं। उपालंभ आदि के ढंग की उक्तियों मे बिहारी ने कहीं कहीं लक्षणा से अच्छा काम लिया है, जैसे—

> मोहिं तुम्हें बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज।
> अपने अपने बिरद की, दुहूँ निबाहन लाज॥

बिहारी की विवेचना मे इस प्रश्न को उठाने की आवश्यकता इस लिए हुई कि बिहारी के दोहों में जो संयोगसंबंधी और वियोग-संबंधी चित्र हैं वे प्राचीन शास्त्रीय नायिका-भेद तथा उसके उपविभागों के ढंग पर हैं। प्राचीन समय के शास्त्रकारों मे ध्वनि और रस को लेकर विवाद हुआ था और ध्वनिमार्गियों ने ध्वनि या व्यंग्य को रस की अपेक्षा अधिक प्रधानता दी थी, क्योंकि उनके अनुसार रसोत्पत्ति भी ध्वनि द्वारा ही हो सकती है। फिर

यदि रस ही काव्य का परम लक्ष्य है और वह अनुभाव, विभाव आदि पर निर्भर है तो हम छोटी-छोटी स्फुट कविताओं के बारे में क्या कहेंगे जिनमें आनन्द देने की सामर्थ्य है। ध्वनिसंप्रदाय वालो ने रस को अस्वीकार नहीं किया है, परन्तु उन्होंने इसे ध्वन्य बतला कर इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है कि स्फुट काव्य में भी रसागो की व्यंजना द्वारा रस उत्पन्न किया जा सकता है। तर्क की दृष्टि से बहुत अंश तक ध्वनिमार्ग वालों का यह कहना ठीक भी है।

बिहारी ने प्राचीन नायिकाभेद के आधार पर ध्वनिसंबन्धी उपर्युक्त सिद्धान्त का व्यवहार किया है। उनका साध्य भाव हमेशा व्यंग है। साधन में कहीं लक्षणा का और कहीं व्यंजना का उपयोग हुआ है, और बिहारी को अपने कर्म मे बहुत अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। दोहे जैसे छोटे छंद मे एक साथ कितनी कितनी चीजों की उनके लक्ष्यक्रम से अथवा अलक्ष्यक्रम से व्यञ्जना कर देना असाधारण कौशल का काम है। ऊपर के दोहों में व्यंगक्रम को कुछ स्थूल विश्लेषण द्वारा समझाने का प्रयत्न किया जा चुका है।

जो विश्लेषण उदाहरण के लिए ऊपर किया गया है वह एकांत निर्विवाद हो, सो बात नहीं है। उसका उद्देश्य विश्लेषण का रूप दिखाने का है। एक छोटे से दोहे मे जब बहुत कुछ भरा जाएगा तो स्वाभाविक ही है कि उसमे हरेक बात अति सूक्ष्म संकेतों के रूप में ही कही जाएगी। ऐसी अवस्था में इन संकेतों का, कभी कभी क्या, अधिकतर अस्पष्ट रह जाना भी स्वाभाविक ही है। अतः भिन्न-भिन्न पाठक उन संकेतों को भिन्न-भिन्न ढङ्ग से ग्रहण करें तो आश्चर्य नहीं। बिहारी-सतसई की इतनी अधिक टीकाएँ

होने का एक यह भी कारण है। एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

> दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
> परति गाँठ दुरजन हिये, दई दई नह रीति।

इस दोहे में प्रसंग की कमी है। सब से आसान बात तो यह है कि इसे कवि का ही कथन मान लिया जाय। उस दशा में यह लौकिक अनुभव की एक चमत्कारोक्ति भर ही रह जाती है। परंतु यदि इसी दोहे को दूती अथवा सखी का नायक या नायिका के प्रति बचन समझा जाय, जैसा कि बिहारी के अधिकांश दोहों के बारे में लोग समझते हैं, तो इसमें एक पूरा प्रसंग अन्तर्हित मालूम होगा। नायक और नायिका की चार आँखें होने के बाद नायिका-(मान लीजिए कि दूती नायिका की ही है और वह नायक से कह रही है)—नायक को प्रेम करने लगी है। उसके प्रेम की बात उसके संबन्धियों को भी मालूम हो गई है और वे उसे सता रहे हैं। उधर कोई अन्य व्यक्ति भी—(पड़ोसी, जो शायद नायिका पर दृष्टि रखता था, अथवा नायक की पत्नी, जिसने नायिका के पास कोई गुप्त भर्त्स्नापूर्ण संवाद भिजवाया है) नायिका को दिक करता है। इतने बड़े प्रसंग का संकेत हमें दूती के अप्रस्तुत निर्वाचन द्वारा, कहने वाली की योग्यता के कारण, मिलता है। अन्त्य व्यंग्य इसका उद्देश्य है जो नायक के भावी उद्योग अथवा आचरण के रूप मे होगा; परंतु इससे पहले व्यंग्य की एक और परंपरा भी है जो नायिका की रति के किसी संचारी को प्रकट करती है। इसके अतिरिक्त किसी को यदि दूती के वर्णन प्रकार मे, 'दई नई यह रीति' के कारण, काकु आदि का भी कुछ पता लगे तो हम आश्चर्य

नहीं कर सकते । फिर वर्णन की असंगति में यदि हम इस को दूती का काकु-वाक्य मानते हैं तो, व्यंग्य की प्रारंभिक पदवी में ही अजहद्‌जहल्लक्षणा (?) हो जाती है; अन्यथा, कवि की उक्ति के रूप में, इसमें, लंबी परंपरा के अभाव से जहल्लक्षणा ही रहनी उचित मालूम होती है । इन सब बातों के साथ ही साथ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार इस दोहे को कवि अथवा दूती का कथन माना जा सकता है उसी प्रकार नायिका और नायक का भी कथन हो सकता है । वह भी दो प्रकार का—स्वगत, अथवा किसी अन्तरंग मित्र से । इन चारों नये प्रकार के कथनों में व्यंजना की पद्धति तथा व्यंग्य विषयों में भी अलग अलग अंतर पड़ जायगा ।

एक दूसरा उदाहरण 'लिखन बैठि जाकि सबिहि'—वाला वह दोहा दिया जा सकता है जिसके पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपनी 'बिहारी की सतसई', प्रथम भाग में दस टीकाकारों के दस मत दिए हैं और अन्त में कह दिया—"इत्यादि अनेक कारण चित्र न बन सकने के हो सकते हैं । वास्तविक कारण क्या था, सो तो बिहारी ही जानते होंगे, या उनके चतुर चितेरे ।"

जैसा पहले कह चुके हैं, इस प्रकार की दिक्कतें दोहा छंद की अति संक्षिप्तता के ही कारण विशेष रूप से पैदा हुई हैं । इससे प्रायः कवि के ध्वन्यर्थ को पकड़ने में बड़ी मुश्किल पड़ती है और अर्थ बहुत दुरूह हो जाता है, क्योंकि इसमें प्रसादगुण की कहीं कहीं हानि होती है । इस को कवि की गूढ़ता के रूप में गुण माना जाय अथवा दोष, यह कहना कठिन है । परन्तु इतनी बात अवश्य कहनी होगी कि ध्वन्यर्थ चाहे संलक्ष्यक्रम से प्राप्त हो या असंलक्ष्यक्रम से अथवा लक्षणा के किसी प्रकार से, पर वह प्रसाद

के साथ, पढ़ते-पढ़ते, प्राप्त होना चाहिए। ज्यादा सोचने में कोई विशेष आनन्द नहीं है, या यदि है तो गणित की किसी समस्या को हल करने के ढंग का, काव्य के ढंग का नहीं। बिहारी के व्यंग्य में भाव व्यंग्य अथवा वस्तु व्यंग्य के साथ साथ अनुभावों संचारियों आदि का भी गूढ़ व्यंग्य ही उनके अर्थ की गहनता का कारण है। जहाँ अनुभावों या सात्विकों के चित्रण द्वारा भाव व्यंग्य कराया गया है वहाँ यह दिक्कत नहीं होती, बल्कि दोहों को पढ़कर वास्तविक आनन्द की अनुभूति होती है। परन्तु जहाँ आलंबन, उद्दीपन आदि संक्षेप में, प्रसंग भी व्यंग्य हैं वहाँ सच-मुच पद्य एक पहेली अथवा गणित की समस्या बन जाता है।

मुक्तक में प्रसंगगर्भत्व से वहाँ अधिक सौष्ठव आता है जहाँ प्रसंग वाचकव्यंग्य हो अथवा फिर जहाँ जीवन के किसी व्यापक क्षेत्र से चित्र-व्यंजना कर उसके द्वारा उद्दिष्ट व्यंग्य कराया गया हो। चित्रव्यंजना व्यापक नायक तथा आलंबन के उचित संकेत अथवा उल्लेख से हो सकती है। लोकप्रसिद्ध नायकों तथा उनके लोकप्रसिद्ध चरित्रों को लेने से यह काम कुछ सुकर हो सकता है, जैसे राम और कृष्ण। सूर और मीरा के स्फुट पद इसीलिए अधिक सरल, और सरस भी, हुए हैं।

इस संबन्ध में ध्यान देने की बात और भी है। रसात्मकता को यदि हम भावुकता का ही दूसरा रूप मानते हैं तो हम देखते हैं कि बिहारी के दोहे, ध्वनिपद्धति के अनुसार रसांगो की व्यंजना की ओर प्रवृत्ति रखते हुए भी, सूर और मीरा के पदों की भावुकता उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, हम इसे यों कहें कि उनमें सूर और मीरा की सी रसात्मकता नहीं है। अधिक बारीकी

से देखने पर हमें इसका कारण यह मिलेगा कि बिहारी के दोहों का चरम व्यंग्य रस, या उसका आधारभूत स्थायीभाव, प्राय. नहीं होता। स्थायी भाव में फलागम की प्रवृत्ति का होना आवश्यक है। बिहारी के दोहे अपनी चरम व्यंजना का लक्ष्य अधिकतर किसी संचारी को ही रखते हैं, जिसमें स्थायी भाव स्थायित्व की पूर्ण पदवी को प्राप्त न होकर अनुमान की चीज रहता है। सूर और मीरा में हमें सूर और मीरा के व्यक्तित्व मे ही स्थायी-भाव के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु बिहारी का अपना कोई स्थायी भाव नहीं है। उनकी केवल शृङ्गार प्रवृत्ति ही है, जिसके कारण उनके दोहों में भावुकता का उतना आनन्द नही है जितना वस्तुत. अर्थ-चमत्कार का। वे पढ़ने वाले को भावविभोर नहीं कर पाते। पर, दोहे की लघुता को दृष्टिगत रखते हुए, चमत्कार का आश्रय लेना अनिवार्य-सा है। इससे बिहारी की श्रेष्ठता घटती नहीं बढ़ती ही है।

अब हम यहाँ बिहारी के व्यंग्य के कुछ श्रेष्ठ उदाहरण देते हैं—

(क) नई लगनि कुल की सकुच, विकल भई अकुलाइ।
दुहुँ ओर ऐंची फिरे, फिरकी लौं दिन जाइ॥

(ख) देखौं जागति वैसियै, साँकरि लगी कपाट।
कित ह्वै आवत जात भजि, को जानै किहि बाट॥

(ग) कर लै चूमि चढाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि।
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति धरति समेट॥

(घ) सखी सिखावति मानविधि, सैननि बरजति बाल।
हरुये कहु मो हिय बसत, सदा बिहारीलाल॥

(ङ) नीचीयै नीची निपट, दीठि कुही लौं दौरि।
उठि ऊँचै नीचै दियौ, मन कुलंग झकझोरि ॥

(च) नहिं अन्हाय नहि जाय घर, चित चहुँट्यो तकि तीर
परसि फुरहरी लौ फिरत, विहँसति धँसति न नीर।

(छ) सटपटात सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट्ट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि ॥

(ज) नैकु हँसौही बानि तज, लख्यौ परत मुख नीठि।
चौका चमकनि चौंध में, परत चौंधि सी दीठि ॥

(झ) कहा लेहुगे खेल में, तजौ अटपटी बात।
नेक हँसौंही है भई, भौंहै सौंहै खात ॥

(ञ) कपट सतर भौंहैं करी, मुख अनखौहै बैन।
सहज हँसौंहै जानिकै, सौंहैं करति न नैन ॥

(ट) हठ न हठीली करि सके, यह प्रावस ऋतु पाय।
आनि गाँठि ज्यों घुटत त्यों, मान गाँठि छुटि जाय ॥

(ठ) इन दुखिया अँखियान कौ, सुख सिरज्यौ ही नाहिं।
देखै बनै न देखते, अनदेखै अकुलाहिं ॥

(ड) चलत-चलत लौ लै चले, सब सुख संग लगाय।
ग्रीषम बासर सिसिर निसि, पिय मो पास बसाय ॥

(ढ) हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाँव।
कहा जानि ये कहत है, ससिहि सौतकर नाँव ॥

(ण) रह्यौ ऐंचि अन्त न लह्यौ, अवधि दुसासन बीर।
आली बाढत विरह ज्यौं, पाँचीली को चीर ॥

भाव की अथवा अवस्था आदि की व्यंजना करने के लिए किसी न किसी रूप मे थोड़े बहुत दृश्य आधार की ज़रूरत होती है। उस

आधार का कुशल प्रयोग व्यंग्य को मनोहर बनाने में सहायक होता है। विभाव या अनुभाव के रूप में बिहारी ने भावव्यंजना के लिए जो भित्ति बनाई है, उसमे उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। अनुभावों तथा सात्त्विकों के चित्रण में तो कहीं कहीं सिनेमा का सा दृश्य उपस्थित कर दिया है। 'भौंहनि त्रासति' अथवा 'नहिं अन्हाय ...' आदि मे हम इस दृश्य को देख सकते हैं। कहीं-कहीं बिहारी ने रूपशोभा का, अथवा रूपशोभा के साथ-साथ प्रकृति को भी मिला कर, दृश्य वर्णन किया है जो भावोत्पत्ति का हेतु बनता है। कहीं शोभा अथवा दृश्य के देखने भर में ही आनन्द मिलता है, इसलिए उन्होंने भी केवल देखने भर के आनन्द के लिए वस्तुवर्णन किया है। इसके संबन्ध मे नीचे जो कुछ उदाहरण दिए जाते हैं वे बिहारी की दृश्यचित्रण कुशलता का पूरा प्रमाण हैं—

(क) कच समेटि कर भुज उलटि, खए सीस पट टारि।
काको मन बाँधे न यह, जूरौ बाँधनिहारि॥

(ख) चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।
मानो सुरसरिता बिमल, जल उछलत जुग मीन॥

(ग) पावस घन अँधियार महँ, रह्यो भेद नहिं आन।
राति द्यौस जान्यो परत, लखि चकई चकवान॥

(घ) चुवत स्वेद मकरंद कन, तरु तरु तर बिरमाय।
आवत दक्खिन ते चल्यो, थक्यो बटोही बाय॥

(ङ) बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की, छाँहौं चाहति छाँह॥

(च) छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गंध।
ठौर ठौर झौरत झँपत, भौंर भौंर मधु अंध॥

ऊपर एक बात कही गई थी, वह यह कि स्फुट काव्य, विशेषतः दोहे में, चमत्कार का आश्रय लेना आवश्यक सा होता है। यह चमत्कार व्यंग्य का साधक होकर उपकारी बनता है, परन्तु वही यदि साधक न बन कर स्वयं साध्य ही रहे तो, वह चुटकुलेबाजी का मज़ा तो दे सकता है, अच्छे काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकता। मम्मट ने तो सर्वत्र व्यंग्य की ही प्रधानता मानी है और काव्यों में उन्होंने अव्यंग्य काव्य को 'अवर' बतलाया है—"शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।" बिहारी ने चमत्कार का सहारा तो ढूँढा ही है, यह अब तक के बहुत से उदाहरणों से स्पष्ट हो गया होगा। परन्तु किन्हीं किन्हीं दोहों मे उन्होंने केवल चमत्कार के ही लिए कोई उक्ति कही है। इसमे बहुत सी उक्तियाँ बडी अच्छी हैं। पर कहीं कहीं चमत्कार का प्रेम बढ़कर असंभव अत्युक्ति तक पहुँच गया है जिसमे वह ग्लानिकर अथवा उपहास्य बन गया है। अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के, चमत्कारप्रियता के उदाहरण नीचे के उद्धरणों मे देखे जा सकते हैं—

(क) छुटे छुटावैं जगत तें, सटकारे सुकुमार।
मन बाँधत बेनी बँधे, नील छबीले बार॥

(ख) कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़िगौ इतौ उदोत।
बंक बिकारी देत ज्यौं, दाम रुपैया होत॥

(ग) कहत सबै बेंदी दिये, आँक दसगुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत॥

(घ) अंग अंग प्रतिबिंब परि, दरपन से सब गात।
दोहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात॥

(ङ) पत्रा ही तिथि पाइयतु, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौ ई रहै, आनन ओप उजास ॥

(च) करी बिरह ऐसी तऊ, गैल न छाँड़तु नीच ।
दीन्हे हू चसमा चखनु, चाहै लहै न मीचु ॥

(छ) इत आवत चलि जात उत, चली छ सातिक हाथ।
चढी हिंडोरैं सी रहै, लगी उसासनि साथ ॥

(ज) बुधि अनुमान प्रमान श्रुति, किए नीठि ठहराइ ।
सूछ्म कटि परब्रह्म लौं, अलख लखी नहिं जाइ ॥

चमत्कार का वाग्वैदग्ध्य से भी बहुत संबन्ध है। ऊपर के बहुत से उदाहरणों मे वाग्वैदग्ध्य भी देखने को मिलेगा। व्यंग्योक्ति अथवा हास्य आदि में वाग्वैदग्ध्य खास तौर से प्रस्फुरित होता है। बिहारी ने हास्य के भी कुछ दोहे लिखे हैं। उनमे वाणी की विदग्धता तथा व्यंग्य अथवा मजाक की बारीकी दोनो ही का सुन्दर रूप अलग अलग अथवा एक साथ द्रष्टव्य है। मज़ाक या व्यंग्य के अतिरिक्त संभाषण की वाक्-चातुरी भी बिहारी मे पाई जाती है। उदाहरण—

(क) चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥

(ख) करौ कुबतु जगु कुटिलता, तजौं न दीनदयाल ।
दुखी होहुगे सरल हिय, बसत त्रिभंगी लाल ॥

(ग) मोहि दियौ मेरौ भयौ, रहत जु मिल जिय साथ ।
सो मन बाँधि न दीजियै, पिय सौतिन के हाथ ॥

(घ) करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि ।
रे गंधी मति-अन्ध तू, इतर दिखावत काहि ॥

(ङ) बेसरि-मोती-दुति झलक, परी अधर-पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोंछ्यो जाय॥

परन्तु यदि देखा जाय तो व्यंग्योक्ति या काकु, चमत्कार, वाग्विदग्धता आदि कोई अलग अलग स्वाधीन तत्त्व नहीं हैं। साहित्य शास्त्रियों ने अवश्य छान-बीन कर, बाल की खाल निकाली है, परन्तु देखने में यह आता है कि ये सब प्रायः एक दूसरे के आश्रित रहते हैं। इनका संबंध प्रसंग की विशेषता तथा प्रयोक्ता की मनःप्रगति से है। किसी प्रसंग को देख कर जब एक प्रधान भाव हृदय में उठता है तो उससे संबंध रखने वाली तमाम मानसिक क्रियाएँ एक साथ ही हो जाती हैं और प्रयोक्ता जब वर्णन करने लगता है तो उन क्रियाओं का विश्लेषण करने की उसे फ़ुरसत नहीं होती। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अपने वर्णनकर्म से अवगत भी रहते हैं वे अपने वर्णन में प्रभाव का उद्देश्य भी रखते हैं। फलतः प्रभाव उत्पन्न करने के जो जो भी उपाय उनकी तात्कालिक विचार-परंपरा के सामने आते हैं उनका वे उपयोग कर लेते हैं। बिहारी के जिन उदाहरणों मे अलग अलग तत्त्व बतलाने की चेष्टा की गई है उनमें अधिकांश ऐसे मिलेंगे जिनमें से किसी एक मे ही तमाम तत्त्व एक साथ उदाहृत हो जाते हैं; और प्रायः ये ऐसे मिले रहते हैं कि उन्हे एक दूसरे से अलग करना कठिन मालूम होता है।

यही बात अलंकारो की भी है। कोई एक स्वतंत्र अलंकार अपने शुद्ध रूप मे अकसर कम ही मिलता है। बिहारी मे ही नहीं, अन्यान्य कवियों मे भी। बात यह होती है कि किसी प्रसंग को देख कर जब कोई भाव अपने प्रभाव के साथ हृदय मे उत्पन्न

होता है तो सांसर्गिक न्याय से किसी प्रधान अलंकार-भाव का (जो प्रभाव का ही रूपान्तर होता है) अज्ञातरूप से जन्म हो जाता है। भाव का अनुरोधी कवि उस अलंकार को नहीं देखता, इसलिए उस को निभाने की भी कोशिश नहीं करता। उसकी दृष्टि केवल प्रभाव की ओर लगी रहती है, अतः जो मुख्य अलंकार-भावना अज्ञात रूप से उसके मन मे उदित हो गई थी उसी की परम्परा में दूसरे मिलते-जुलते अलंकारों की छाया भी सहचारी या संचारी ढंग से छिपे-छिपे कवि की उक्ति मे आ जाती है। यह यहाँ तक होता है कि कभी कभी कवियों की उक्ति मे बहुत सरल अलंकार, जैसे उपमा, रूपक, तक अपने शुद्ध रूप मे नहीं रहने पाते। महाकवियों की वाणी मे अलंकार-संकरता ही अधिक देखने को मिलती है। इसके प्रमाण में किसी कवि की किसी उक्ति को लेकर देखा जा सकता है। एक विद्वान् उसमें यदि एक अलंकार बताएगा तो दूसरा दूसरा; और यह भी असंभव नहीं कि वे ही विद्वान् कुछ समय के बाद उसी उक्ति मे अपने पहले बताए हुए अलंकारो से भिन्न दूसरे अलंकार देखने लगें। परन्तु यदि स्वयं कवि से पूछा जाय तो वह शायद उसमे कोई भी अलंकार न बता सके। अतः बिहारी जैसे महाकवि में भी, जहाँ भाव और उसके प्रभाव का ही उद्देश्य है, हमें लगभग सर्वत्र ही भाव-संकरता मिलेगी। वह भी बड़े उलझे हुए ढंग की। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने अपनी 'देव और बिहारी' नामक रचना मे बिहारी का निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया है—

यह मैं तोही मैं लखी, भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद माला जु भो, तन कदंब की माल॥

और इनमे सोलह अलंकार खोज निकाले हैं। फिर भी उनकी सूची पूरी नहीं हुई है, क्योंकि अन्त मे उन्होने लिखा है – "गौण रूप से अभी और भी कई अलंकार इसमे निकल सकते हैं।" हमारा अभिप्राय मिश्र जी से सहमति या असहमति प्रकट करने का नहीं है; हम यही दिखाना चाहते थे कि बिहारी की अलंकार-योजना का रूप क्या है। हम यह भी नही कहना चाहते कि बिहारी की अलंकार-संकरता से उनके काव्य का रूप बिगड़ा है। इसके विपरीत हमारी सम्मति मे तो इससे उसकी मनोहरता की वृद्धि तथा कवि के उद्देश्य की सिद्धि ही हुई है।

पर, जैसा कहा गया है, संकरों में भी किसी मुख्य अलंकार का अस्तित्व तो प्रायः रहता ही है। अलंकार-प्रेमी अन्वेषकों को भी उस मुख्य अलंकार से ही संतोष कर लेना काफी है। यहाँ भिन्न भिन्न अलंकारों के उदाहरण देने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती। अब तक जितने उद्धरण दिए गए हैं वे ही अलंकारों के भी उदाहरणो का काम दे सकते हैं। मुख्यभूत अलंकार की प्रतीति उनमे हो जाना कठिन नही है। हाँ, प्रवृत्ति की दृष्टि से यह बात अवश्य जान लेनी चाहिए कि जहाँ अनुभावों और सात्त्विक भावों द्वारा भावव्यंग्य का उद्देश्य है वहाँ हमारे कवि की रुचि स्वभावोक्ति की ओर विशेष देखी जाती है तथा जहाँ शोभा-वर्णन और चमत्कार आदि का उद्देश्य है वहाँ अतिशयोक्ति की ओर। हम केवल प्रवृत्तियों की ही बात कह रहे हैं, 'स्वभावोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' अलंकारों की नहीं। स्वभावोक्ति और अतिशयोक्ति तो मनुष्य हृदय की दो बहुत स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। अलंकार रूप मे 'अतिशयोक्ति' स्वयं सादृश्य-

मूलक अलंकार है, परन्तु प्रवृत्तिरूप में यह विरोधमूलक अलंकारों तक की तह में पाई जा सकती है। स्वभावोक्ति अतिशयोक्ति की विरोधिनी है और प्रवृत्ति रूप में वस्तुओं तथा दशाओं के सहज दर्शन मे पाई जाती है। इन प्रधान प्रवृत्तियो के अतिरिक्त बिहारी-लाल मे एक गौण प्रवृत्ति ध्वनि-साम्य की भी अधिक दृष्टिगोचर होती है, जिसका उद्देश्य ज़्यादातर चमत्कारवर्धन है। केवल चमत्कार के लिए प्रयुक्त किए गए ध्वनि-साम्य का एक उदाहरण देते हैं। इसमे यमक प्रधान है—

केसरि कैं सरि क्यों सकै, चंपक कितक अनूप।
गातरूप लखि जात दुरि, जातरूप को रूप॥

बिहारी ने अन्योक्तियाँ भी बड़ी अच्छी कही हैं। दो एक उदाहरण उनके भी देखने चाहिएँ—

(क) 'नहिं पराग नहिं मधुर, मधु' इत्यादि।—पीछे दिया जा चुका है।
(ख) 'करि फुलेल को आचमन' इत्यादि। " "
(ग) को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यो चहत, त्यों त्यौं उरझत जात॥
(घ) स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु विहग विचारु।
बाज, पराये पानि पर, तू पंछी हि न मारु॥
(ङ) पायल पाँय लगी रहै, लगे अमोलक लाल।
भोड़र हू की भासिहै, बेंदी भामिनि भाल॥
(च) जदपि सुन्दर सुघर पुनि, सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितो, भरियै जितो सनेह॥
(छ) इहि आशा अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल।
ह्वै है बहुरि वसंत ऋतु, इन डारन वे फूल।

(ज़) चले ज़ाहु ह्याँ को करै, हाथिन को व्यौपार।
नहिं जानत यहि पुर बसें, धोबी ओड़ कुम्हार॥

अन्योक्तियों के विषय मुख्यतः सांसारिक अनुभवों के तथ्य हैं। सांसारिक अनुभव की बहुत सी बातें बिहारीलाल ने कहीं कहीं अन्योक्ति के रूप मे न कह कर सीधी-सीधी भी कही हैं। इसके अतिरिक्त कुछ दोहे उनके ईश्वर तथा भक्ति के ऊपर भी हैं। ईश्वर भक्ति तथा लोकानुभव से सम्बन्ध रखने वाली बिहारी की कुछ सूक्तियाँ भी यहाँ दी जाती हैं—

(क) मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तनु की झाँई परे, स्याम हरित दुति होइ॥

(ख) जगत जनायौ जिहि सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखियैं, आँखि न देखी जाहिं॥

(ग) अपनै अपनै मत लगे, वादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सब कौं सेइबो, एकै नन्दकिसोरु॥

(घ) कब को टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जगनाइक जग-बाइ॥

(ङ) कौन भाँति रहिहै बिरुद, अब देखबी मुरारि।
बीधे मो सों आइकै, गीधे गीधहिं तारि॥

(च) बड़े न हूजै गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय॥

(छ) नर की अरु नल-नीर की, एकै गति करि जोय।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होय॥

(ज) घर घर डोलत दीन ह्वै, जन जन याचत जाय।
दिये लोभ चसमा चखनि, लघु पुनि बड़ो लखाय॥

(क) बुरौ बुराई जो तजै, तौं मन खरो सकात।
ज्यौं निकलंक मयंक लखि, गनैं लोग उतपात ॥

(न) कनक कनन तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वहि खाये बौराय जग, यहि पाये बौराय ॥

(ट) कोटि यतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहि बीच।
नल बल जल ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच ॥

(ठ) दुसह दुराज प्रजान में, क्यों न करैं दुख द्वद।
अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रवि चद ॥

बिहारी की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है जिसमें बुंदेलखंडी की पुट है। शब्द संस्कृत तथा फारसी के भी आए हैं। कहीं कहीं शब्द तोड़े-मरोड़े भी गए हैं। परन्तु वैसे इनकी भाषा बहुत गठीली सुव्यवस्थित और प्रभावमयी है, मुहावरेदार है। कभी कभी एक ही दोहे मे एक साथ कई कई मुहावरे आगए हैं, जैसे—

मूँड़ चढाए हू रहै, पर्यो पीठि कच-भारु।
रहै गरैं परि राखिबो, तऊ हिये पर हारु ॥

जहाँ व्यंग्यार्थ बहुत गहन नहीं है वहाँ प्रसादगुण अच्छा है। परन्तु प्रसाद की अपेक्षा बिहारी में माधुर्य की मात्रा विशिष्ट है। ध्वनि-साम्य के लिए वर्णमैत्री तो, किसी न किसी परिमाण में, लगभग सर्वत्र ही है, जिससे तरह तरह के अनुप्रासों की उत्पत्ति होती है; परन्तु 'सतसई' में पदमैत्री के उदाहरण भी कम नहीं हैं। प्राकृतिक वर्णनों में विषय की अनुकूलता के लिए भाषा भी प्रायः अपना रूप तदनुसार ही बदल लेती है, जैसे—

रनित भृङ्ग घंटावली, झरित दान-मद-नीर।
मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर ॥

इस दोहे के पहले और दूसरे चरणों में घंटे के बजने तथा नीर के झरने की ध्वनियों की अनुकूलता प्रयुक्त शब्दावली में गूंज रही है।' इस तरह के प्रयोग विषय का प्रत्यक्ष कराने, उसके अनुरूप भाव पैदा कराने, मे बहुत जल्दी सहायक होते हैं।

बिहारी की कविता में कुछ साधारण से दोष भी हैं। असंभव अत्युक्तियो का जिक्र किया जा चुका है। इसी तरह प्रसंगगर्भत्व से कहीं कहीं उत्पन्न होने वाली दुरूहता का भी। दो चार स्थलों मे इन्होंने ऐसे उपमानों का भी प्रयोग किया है जो भावावबोध कराने में असमर्थ हैं और इसलिए अप्रयोज्य हैं, यथा—

भाल लाल बेंदी छुए, छुटे बार छबि देत।
गह्यौ राहु अति आहु करि, मनु ससि सूर समेत॥

एक दो स्थानों पर विपरीत भावों के एकत्र कर देने से वर्णन उद्वेगजनक भी हो गए हैं।

परन्तु बिहारी की संपूर्ण रचना में असंभव अत्युक्तियो या उपमानो या ग्राम्य वर्णनो के उदाहरण इने-गिने ही हैं और वे गुणो की अधिकता मे ऐसे ढक जाते हैं कि उनसे कवि की श्रेष्ठता को कोई हानि नहीं पहुँचती। बिहारी सचमुच अपने ढंग के अद्वितीय कवि हैं।

भूषण

रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र भूषण कवि का जन्म कानपुर के समीप तिकवाँपुर गाँव मे संवत् १६६२ के आसपास हुआ था। इन्होने लगभग १०२ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त की। इनकी मृत्यु संवत् १७१५ के इधर-उधर हुई। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके

वास्तविक नाम का पता नहीं। 'भूषण' इनकी उपाधि थी जो इन्हें चित्रकूट के सोलंकी राजा 'हृदयराम-सुत रुद्र' ने इनकी कविता पर प्रसन्न होकर दी थी।

कुल सुलंकि चितकूटपति, साहस-सील-समुद्र।
'कवि भूषण' पदवी दई, हृदयरामसुत रुद्र ॥—(शिवराज-भूषण)

चित्रकूट के राजा के यहाँ से भूषण, कुछ समय बाद, शिवाजी के यहाँ चले गए थे। इनको सब से अधिक धन और मान शिवाजी के यहाँ से ही प्राप्त हुआ। परन्तु धन की अपेक्षा भूषण को मान अधिक प्यारा था, जिसके कारण अपनी भावज के किसी ताने पर तरुणावस्था में ही ये घर छोड़ कर चले आए थे और तब तक वापिस न गए जब तक कि इन्होंने उस ताने का जवाब न दिया। छत्रसाल से उन्हें उतना धन नहीं मिला जितना शिवाजी से, परन्तु छत्रसाल उनका मान खूब करते थे। कहा जाता है कि छत्रसाल ने भूषण की पालकी का डंडा तक अपने कंधे पर रख लिया था, जिस पर भूषण पालकी से एक दम कूद पड़े। इसी कारण (तथा छत्रसाल के स्वतंत्रताभिमानी, जातिप्रेमी होने के कारण) मान-धनी भूषण उनके यहाँ भी आते-जाते थे। शिवाजी के अतिरिक्त भूषण ने छत्रसाल को भी अपनी कविता का नायक बनाया है, यद्यपि शिवाजी के यहाँ रहने के कारण उन्होंने शिवाजी के विषय में ही सब से अधिक कहा है। कुमायूँ के राजा ने एक छन्द कहने पर भूषण को एक लाख रुपया देना चाहा; परन्तु आदर-विशेष न दिखाया, जिस पर उन्होंने रुपया लेने से इनकार कर दिया।

आत्मसम्मान का इतना मूल्य रखनेवाले इन भूषण के लिए

स्वतंत्रताप्रेमी तथा जाति-प्रेमी होना भी स्वाभाविक ही था। इसी लिए हम देखते हैं कि कानपुर के रहनेवाले होकर भी उन्होंने स्वराज्य-स्थापक छत्रपति शिवाजी के यहाँ जाना पसन्द किया और सुदूर दक्षिण की इतनी लंबी यात्रा की। अन्यथा काव्योपजीविकामात्र के लिए क्या वे भी दूसरे कवियों की भाँति किसी पास-पड़ोस के राजा के यहाँ केलिक्रीड़ा के गीत नहीं गा सकते थे? पर ऐसे गीत गाने या राजाओं के झूठे प्रशंसा वाक्य रचने को भूषण पवित्र वाणी का दुरुपयोग समझते थे। उन्होंने कहा है:—

ब्रह्म के आनन तें निकसे तें अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम युधिष्ठिर के बरने, बलमीकहु व्यास के अङ्ग सोहानी॥
भूषन यों कलि के कविराजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्र-सिवा सरजे सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥

(शिवराज भूषण)

भूषण ने शिवाजी के रूप-सौन्दर्य अथवा उनके रनिवास-जीवन का कहीं वर्णन नहीं किया, बल्कि बराबर उनके पराक्रम और प्रताप की ही ओर दृष्टि रक्खी है। शिवाजी के यश, प्रताप और दान आदि के वर्णनों में जो अतिशयोक्तियाँ दिखाई देती हैं सो कुछ तो काव्यशैली के कारण, और कुछ वीर-काव्य के उद्देश्य के कारण। वीरकाव्य में प्रोत्साहन और भावोत्तेजन का उद्देश्य रहना आवश्यक है। यदि कवि का उद्देश्य अपने वीर नायक की प्रशंसा करना ही होता तो वह उसके ही एकान्त व्यक्तित्व को दृष्टिगत रखता। परन्तु इसके विपरीत, भूषण के शिवाजी इसलिए स्तुत्य नहीं हैं कि वे शिवाजी हैं, बल्कि इसलिए कि वे जाति-रक्षक हैं और धर्मरक्षक हैं। जिस प्रकार तुलसीदास के राम

अपने लोकसंग्रह के कारण बड़े हैं उसी प्रकार भूषण के शिवाजी भी हिन्दू जाति के उद्धार तथा धर्मसंरक्षण के कारण ही हमारे पूज्य हैं। जिस प्रकार तुलसीदास का रावण इसलिए प्रतिनायक नहीं है कि वह राम का शत्रु है बल्कि इसलिए कि वह लोक का शत्रु है, उसी प्रकार भूषण का प्रतिनायक भी इसलिए प्रतिनायक है कि वह हिन्दू जाति का वैरी है। शिवाजी भूषण के आदर्श हैं इसलिए कि उन्होंने—

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की
काँधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में॥

—(शिवा-बावनी)

भूषण की यह जो जातीय भावना है वही उसके काव्य की प्रेरक शक्ति है, उसके काव्य की आत्मा है। मुसलमानों के अत्याचार और हिन्दुओं की दलित दशा को देख कर कवि का हृदय अवश्य उबलता होगा। उसने निदान करके देखा कि इस दशा का कारण हिन्दुओं की आपसी फूट है। यह निदान इतना कटु था कि दशा सुधरने के बाद, उत्सव के समय भी कवि उसे नहीं भूलता। यद्यपि कवि को हर्ष है कि "टूटी पातसाही सिवराज संग लरते" तथापि पातसाही टूटने का जो पहला दृष्टान्त कवि के सामने आता है वह यही है कि "आपस की फूट ही से सारे हिन्दुवान टूटे।" भूषण ने कतिपय फुटकर पद्यों में कुछ अन्य राजाओं का भी संक्षेप में वर्णन किया है, पर स्तव उन्हीं का किया है जो हिन्दुओं की ओर से लड़े हैं और जो देशद्रोही थे उनकी निंदा की है। मध्यदेश

युद्ध और शौर्य के वर्णन के साथ ही साथ भूषण ने अपने नायक के प्रभाव का और भी विशद वर्णन किया है। जिसकी शूरवीरता रण में सदा ही शत्रुओं के बुरी तरह दाँत खट्टे कर देती थी उसका आतंक शत्रुओं के हृदय पर कैसा रहा होगा! शिवाजी का नाम सुनकर शत्रुओ का हृदय दहलता था, नगाड़े की ध्वनि से तो उनकी छाती ही फट जाती थी, और जब औरंगज़ेब किसी सेनापति को दक्षिण की ओर जाने की आज्ञा देता, अथवा किसी को वहाँ का सूबेदार बनाता तो उस व्यक्ति की आधी जान पहले ही निकल जाती थी। भूषण ने इस प्रभाव और आतंक के वर्णन दूसरे वर्णनों की अपेक्षा अधिक किए हैं और उनमे वीररस के सहयोगी दूसरे दूसरे रसों का भी समावेश हुआ है। भय का चित्र नीचे के उदाहरणों में कितना स्पष्ट और प्रभावोत्पादक है—

चकित चकत्ता चौकि चौकि उठै बार बार
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर-पति
फिरति फिरंगिनी की नारी फरकति है॥
थर-थर काँपत कुतुबशाह गोलकुँडा
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते पातसाहिन की छाती धरकति है॥—(शिवाबावनी)

नीचे के छंद मे स्त्रियो की भी घबराहट देखने लायक है—

चमकती चपला न फेरत फिरंगैं भट
इन्द्र को न चाप रूप बैरख-समाज को।

घाये धुरवा न, छाये धूरि कै पटल; मेघ
गाजिबो न, बाजिबो है दुंदुभि दराज को॥
भौंसला के डरन डरानी रिपु-रानी कहै
'पिय भजौ', देखि उदौ पावस के साज को।
घन की घटा न गज-घटनि सनाह साजे
भूषन भनत आयौ सैन सिवराज को॥—(शिवराज भूषण)

शिवाजी के आतंक के वर्णनो को देखने से पता चलता है कि शत्रुओ की अपेक्षा उनकी स्त्रियों के भय को दिखाने मे कवि ने मानस विज्ञान का भी उपयोग अधिक किया है। कारण स्पष्ट है। शत्रु भयभीत होकर भी किसी न किसी उद्दिष्ट क्रिया मे ही अपने भय का अवसान करेगा। परन्तु उस रात-दिन के लड़ाई-झगड़े में परदानशीन बेगमों को आठो पहर चिन्ता करते रहने के अतिरिक्त और काम ही क्या था। अभी जो छंद उद्धृत किया गया है वह यद्यपि अलंकार की दृष्टि से अपह्नुति का उदाहरण है, तथापि काव्यात्मा की दृष्टि से उसमे अलंकार गौण है। शत्रु-पत्नियों की मानसिक अवस्था का चित्रण ही उसका प्रधान उद्देश्य है। अलंकार इस उद्देश्य का उपजीवीमात्र है। जहाँ स्त्रियो की मानसिक अवस्था की परिणति अनुद्दिष्ट क्रिया में होती है उसका चित्रण नीचे के छंद मे बड़ा अच्छा किया गया है—

कत्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि,
कीन्ही सिवराज वीर अकह कहानियाँ।
भूषन भनत तिहुँ लोक में तिहारी धाक,
दिल्ली औ बिलाइत सकल बिललानियाँ॥

आगरे अगारन की नाँघती पगारन,
सँभारती न बारन बदन कुम्हलानियाँ ॥
कीबी कहैं कहा औ गरीबी गहे भागी जाहिं,
बीबी गहे सूथनी सुनीबी गहे रानियाँ ॥

भयानक, बीभत्स और रौद्र वीररस के स्वभाव-सहायक रस हैं। भूषण ने बीभत्स के अच्छे वर्णन किए हैं, पर रौद्र उतना अधिक नहीं है। आतंक में शत्रुओं के भय की दयनीय दशा दिखाते हुए कहीं कहीं भूषण ने मज़ाक भी बड़ा अच्छा किया है, जैसे निम्नलिखित उदाहरण में—

चित्त अनचैन, आँसू उमगत नैन, देखि
बीबी कहै बैन, मियाँ कहियत काहि नै।
भूषन भनत बूझे आये दरबार तें
कँपत बार बार क्यों सँभार तन नाहिनै ॥
सीनो धकधकत, पसीनो आए देह सब
हीनो भयो रूप न चितौत बायें दाहिनै।
सिवाजी की संक मानि गये हौ सुखाय, तुम्हें
जानियत दक्खिन को सूबा करो साहिनै ॥

शत्रुओं की तुच्छता और क्षुद्रता की इस बलवती धारणा मे भूषण मज़ाक से आगे बढ़कर, व्यंग्यपात भी बड़ा चुटीला करते हैं। ओज की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाने पर कहीं कहीं व्यंग्योक्ति कटूक्ति भी बन जाती है। दो-तीन उदाहरण इसके भी देखने योग्य हैं। यथा—

(क) किल्ले के ठौर बाप बादसाह साहजहाँ,
ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है।

बड़ो भाई दारा वाको पकरि के मारि डारयो,
मेहर हू नाहि माँ को जायो सगो भाई है ॥
बन्धु तो मुराद बकस बादि चूक करिबे को,
बीच दै कुरान खुदा की कसम खाई है।
भूषण सुकवि, कहै सुनौ नवरंगजेब,
एते काम कीन्हें तब पातसाही पाई है ॥

(ख) दाढी के रखैयन की दाढी सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद, जस, हद्द हिन्दुवाने की,
कढ़ि गई रैयति के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की,
'भूषन' भनत दिल्ली-पति दिल धक-धक,
धाक सुनि सुनि सिवराज मरदाने की,
मोटी भई चंडी बिनु चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की ॥

(ग) दारा की न दौर यह रारि नहीं खजुवे की,
बाँधिवो नहीं है किधौं मीर सहवाल को,
मठ विस्वनाथ को न बास ग्राम गोकुल को,
देव को न देहरा, न मंदिर गोपाल को ॥
गाढे गढ लीन्हें अौरे बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को ॥
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को ॥

प्रतिनायक-पक्ष के लिए यह हेय-भावना कुछ तो नायक के उत्कर्ष के कारण है और कुछ नायक का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए।

यथार्थ जीवन में भी व्यक्ति जितना अधिक धैर्यशील, साहसी और पराक्रमी होता है वह उतनी ही कठिन परिस्थितियों से युद्ध करने की सामर्थ्य रखता है, परन्तु, उसी भाँति जो व्यक्ति जितनी कठिन परिस्थितियों से युद्ध करके विजय प्राप्त करता है वह उतना ही धैर्यवान्, व्यवसायशील और पराक्रमी समझा जाता है। दोनों परिस्थितियाँ एक दूसरी का प्रतिबिंब हैं, परन्तु फिर भी वे एक दूसरी से भिन्न हैं। शिवाजी या छत्रसाल के चरित्रों में जो गुण थे उन्हीं के कारण वे औरंगज़ेब जैसे शत्रु का माँझा ढीला कर सके, परन्तु दूसरी ओर, औरंगज़ेब जैसे शत्रु के मिलने पर ही उनके चरित्रगुण अपने पूर्ण रूप में विकसित हो सके तथा हम को उन गुणों का परम उज्ज्वल रूप देखने को मिल सका। भूषण भी इस को समझते हैं। उनके नायक धीरोदात्त श्रेणी के नायक हैं। इन नायकों का साहस और पराक्रम अपने मार्ग की बाधाओं को देख कर घटता नहीं; और बढ़ता है। जितनी ही गुरुतर वे बाधाएँ हैं उतना ही विशाल उन नायकों का पराक्रम है। इसलिए, यद्यपि भूषण को शत्रुओं की पतली हालत देखकर अवश्य हँसी आती होगी और उन्हें चिढ़ाने में मजा भी आता होगा तथापि अपने नायक के कार्य की गुरुता को देखते हुए वे यह भी अवश्य देखते हैं कि शत्रु कितना भारी है। वह यह नहीं कहते कि यदि नायक सिंह के समान है तो शत्रु बकरी है, प्रत्युत वह शत्रु को भी हाथी बनाते हैं और उसे 'अरीन्द्र' कहते हैं— "दाबि यों बैठो नरिन्द अरिंदहि मानो मयन्द गयन्द पछारयो।" 'गयन्द' शब्द में बल और विशालता दोनों का ही संकेत है। नायक के उत्कर्ष को दिखाने के लिए प्रतिनायक का उत्कर्ष दिखाना भी

सफल कविकर्म का एक श्रेष्ठ साधन होता है।

भूषण ने शिवाजी के शौर्य पराक्रम, आतंक के अतिरिक्त उनके यश तथा दान का भी वर्णन किया है। यश तो पराक्रम का स्वाभाविक उपलब्ध बन ही जाता है, परन्तु दान का पहला संबंध कवि की अपनी कृतज्ञता से है, उसके बाद नायक की दान-वीरता से, तदुपरांत यश के उपकरण के एक स्वरूप से। शिवाजी के दान के बारे में भी भूषण ने कितने ही छंद कहे हैं, पर इस विषय का निचोड यह है—

> औरन के जाँचे कहा, नहिं जाँच्यो सिवराज।
> औरन के जाँचे कहा, जो जाँच्यो सिवराज॥

भूषण के कुछ फुटकर छंद शृंगार-रस पर भी मिलते हैं। इनमे भी भूषण की रणध्वनि की झलक कहीं कहीं थोड़ी सी आ गई है, यथा—"नैन जुग नैनन सों प्रथमे लडे हैं धाय .. .." आदि। परन्तु उनके वीररस के कवि होने, अथवा उनके शृंगारी पद्यों में वीराभास होने के कारण हमको यह न समझ लेना चाहिए कि भूषण के हृदय में कोमलता का कोई अंश ही न था। विरहिणी नायिका के निम्नलिखित चन्द्रोपालंभ में विरहिणी के हृदय में कैसा स्वाभाविक रूप दरशाया गया है—

> जिन किरनन मेरो अंग छुयो तिनहि सों,
> पियअंग छुवै क्यों न मैन-दुख-दाहे को।
> भूषन भनत तू जो जगत को भूषन है,
> हौं कहा सराहौं ऐसे जगत-सराहे को॥
> चंद ऐसी चांदनी तू प्यारे पै बरसि उतै;
> रहि न सकै मिलाप होय चित चाहे को।

भूषण की भाषा को निःसंकोच मिश्रित भाषा कह सकते हैं। ब्रज और बुंदेलखण्ड की भाषाओं के अतिरिक्त उसमें अरबी, फ़ारसी के शब्द भी बहुतायत से उपलब्ध होते हैं। जहाँ ओजविशेष की आवश्यकता हुई है वहाँ अपभ्रंश के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भूषण ने जिस किसी भी भाषा के शब्दों को अपनी रचना में काम में लिया है उन्हें खूब अच्छी तरह बनाया बिगाड़ा है, यहाँ तक कि ये कभी कभी पहचान में भी नहीं आते। शब्दों को बिगाड़ने की यह स्वतंत्रता, हम देखते हैं, लगभग सभी कवियों में थोड़ी बहुत रहती है। भूषण में यह कुछ अधिक है। परन्तु दूसरे बहुत से कवि जहाँ प्रायः शब्द को छंद की आवश्यकता के लिए बिगाड़ते हैं वहाँ भूषण ने ऐसा, छन्द की आवश्यकता के अतिरिक्त, कुछ अपनी ओजस्विनी वाणी की हुँकार के लिए भी किया है। शब्दों की यह तोड़-मरोड तथा भिन्न भिन्न भाषाओं की खिचड़ी भूषण के हृद्गत ओज के अकृत्रिम, स्वाभाविक उद्गार के लक्षण हैं। ये लक्षण उनकी वीर कविता में ही पाए जाते हैं। अन्यथा, इनके दूसरे प्रकार के छन्दों की भाषा न तो वैसी खिचड़ी ही है और न उसमें शब्दों का वैसा तोड़-मरोड ही है। शिवाजी के नगर की शोभा का वर्णन करते समय भूषण की शब्दावली कितनी कोमल और प्रसादयुक्त हो जाती है सो नीचे के उदाहरणों में देखा जा सकता है—

(क) आनन्द सों सुंदरिन के कहुँ बदन इंदु उदोत हैं।
नभ सरित से प्रफुलित कुमुद मुकुलित कमलकुल होत हैं।
कहुँ बावरी सर कूप राजत बद्धमनि सोपान हैं।
जहँ हंस सारस चक्रवाक विहार करत सनान हैं॥

(ख) कितहूँ बिसाल प्रवाल जालन जटित अंगनि भूमि हैं।
जहँ ललित बागनि द्रुम लतनि मिलि रहे झिलमिल झूमिहैं।
चंपा चमेली चारु चंदन चारिहू दिसि देखिए।
लवली लवंग यलानि केरे लाखहूँ लगि देखिए॥

(न) लसत विहंगम बहु लवनित बहुभाँति बाग महँ।
कोकिल कीर कपोत केलि कलकल करंत तहँ।
मंजुल महरि मयूर चटुल चातक चकोरगन।
पियत मधुर मकरंद करत झन्कार भृंगन॥
भूषन सुबास फल-फूल-युत, छहुँ ऋतु बसत बसंत जहँ।
इमि राजदुग्ग राजत रुचिर, सुखदायक सिवराज कहँ॥

इसी प्रकार शृंगार के उदाहरण में भी हम भाषा का मधुर रूप देख चुके हैं। और यह देखते हुए हम निःसंकोच कह सकते हैं कि भूषण की भाषा में भावों और वर्ण्य विषयों के अनुसार ही चढाव-उतार होता आता है। जिस प्रकार उनका चमत्कारविधान भावों का सहधर्मी है उसी प्रकार उनकी भाषा भी भावों की सहधर्मिणी है।

भूषण के लिखे हुए तीन ग्रंथ अब तक प्रकाश में आ चुके हैं— शिवराजभूषण, शिवाबावनी और छत्रसालदशक। इनके अतिरिक्त उनके कुछ फुटकर पद्य भी प्रकाशित हुए हैं। वैसे तो इनका कोई ग्रंथ भी प्रबंध-रूप में नहीं है, परन्तु विषय के अनुसार इन तीन रचनाओं को अलग अलग नाम से प्रबद्ध किया गया है। पता नहीं कि शिवाबावनी और छत्रसालदशक का क्रम और नामकरण स्वयं भूषण ने ही कर दिया था, अथवा वह बाद में किया गया। परन्तु शिवराजभूषण भूषण ने क्रमबद्ध रूप से लिखा था। यह एक

लक्षणग्रंथ है और इसका विषय अलंकार है। इसमें पहले अलंकारों का लक्षण देकर बाद में, स्वतंत्र छंदों में, उदाहरण दिए गए हैं। उदाहरणों का विषय शिवाजी की ही जीवनी से लिया गया है। अतः इन उदाहरणों में प्रायः सच्चा कवित्व देखने को मिला है।

परन्तु लक्षणग्रंथ की दृष्टि से शिवराजभूषण का कोई महत्त्व नहीं है। भूषण ने उसे रीतिकाल की केवल पद्धति का पालन करने के लिए बनाया था। उसमें उनकी रुचि नहीं मालूम होती। फलतः इसमे दिए हुए अलंकारों के लक्षण अकसर अव्याप्ति या अतिव्याप्ति के दोषों से युक्त हैं। बहुत जगह उदाहरण भी लक्षण के अनुसार नहीं दिए गए हैं। इस ग्रंथ में भूषण ने अपनी ओर से भी कुछ नए अलंकारों तथा अलंकार-भेदों की गणना कराई है जो उनसे पहले के कवियों द्वारा लिखे गए ग्रंथों मे परिगणित नहीं हैं।

शिवाबावनी में शिवाजी के ऊपर कहे गए ५२ फुटकर छंदों का संग्रह है। छत्रसालदशक मे महाराज छत्रसाल के ऊपर दस पद्य कहे गए हैं। उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त भूषण के लिखे तीन ग्रंथ और भी बताए जाते हैं—भूषणहजारा, भूषण-उल्लास और दूषणउल्लास; परन्तु उनका अभी तक कोई पता नहीं लगा है। इसमें संदेह नहीं कि सौ वर्ष से अधिक की आयु पाकर भूषण ने बहुत कुछ लिखा होगा।

भूषण का स्थान हिंदी साहित्य मे बहुत ऊँचा है। यद्यपि उनके अतिरिक्त और भी कई कवियों ने वीर रस पर लिखा है; परन्तु उन कवियों की वाणी में भूषण का सा ओज नहीं है। इसीलिए वे प्रसिद्धि में न आ सके। पर इससे भी बड़ी बात यह

है कि भूषण वीररस के ही नहीं हिंदू जाति के भी कवि हैं। अपने समय के वही सबसे बड़े जातीय कवि हैं और उस समय के प्रतिनिधि हैं। इसका एक बड़ा प्रमाण यह भी है कि उनकी रचनाओं में ऐतिहासिकता अपने शुद्ध रूप में मिलती है। शिवाजी के जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं का उन्होंने सच्चा उल्लेख किया और कहीं भी भावावेश के वशीभूत होकर अतिरंजना द्वारा ऐतिहासिक सत्य को विकृत नहीं किया है। किसी कवि की लेखनी से ऐसा न होना उसके अद्भुत संयम और सत्यप्रियता का बड़ा भारी प्रमाण है। हमारा विचार है कि आजकल के स्वातन्त्र्य-संग्राम के युग में भूषण के अध्ययन को अधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म संवत् १९०७, अर्थात् सन् १८५० ई० मे हुआ था। ये काशी के इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंशज और सुकवि बाबू गोपालचन्द्र (उपनाम गिरिधरदास) के पुत्र थे। इनके दुर्भाग्य से, जब ये पाँच वर्ष के थे तभी इनकी माता की मृत्यु हो गई और दस वर्ष की आयु में ये अपने पिता से भी बिछुड़ गए।

इस कारण इनकी शिक्षा अधूरी रह गई। वैसे भी पढ़ने-लिखने में इनका मन अधिक नहीं लगता था। तथापि, बाद में, अपनी प्रतिभा के कारण स्वाध्याय से ही बाबू हरिश्चन्द्र ने अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। मराठी, गुजराती, बँगला,

उर्दू, अंग्रेज़ी तथा संस्कृत के ये अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने बंगला तथा संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद भी किया है। इन्होंने शास्त्रादिक का भी अध्ययन किया था और 'नाटक' के ऊपर शास्त्रीय ढंग का एक बड़ा सा लेख भी लिखा था जिसमें मौलिकता की काफ़ी मात्रा है। प्राचीन शास्त्र की अनेक अप्रयोजनीय या असुविधाजनक रूढ़ियों का इन्होंने बहिष्कार किया। अपने इस लेख में इन्होंने लिखा है—

किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगो की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलंबन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।

... ...

"नाट्यकलाकौशल दिखाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है पूर्वकाल में लोकातीत असंभव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयग्राहिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती।

"अब नाटकादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मंडली को नितांत अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय ग्रहण करके नाटकादि दृश्यकाव्य-प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशीः' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी', कहीं 'विलोभन', कहीं 'सफेट', 'पंचसंधि' वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी में इनका अनुसंधान — किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक भरकर हिन्दी नाटक लिखना

व्यर्थ है। क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उलटा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।"

परन्तु साथ ही वे यह भी लिखते हैं—"नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है; क्योंकि जो सब प्राचीन रीति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी.........."

इन उद्धरणों से भारतेन्दु के विचार-स्वातंत्र्य, प्रगतिशीलता, समीक्षक-बुद्धि आदि उन गुणों का आभास मिलता है जो उनके अधिकांश जीवन-कार्यों के सदा प्रेरक रहे। भारतेन्दु ने अधिक आयु नहीं पाई—सन् १८८५ में, ३५ वर्ष की आयु में ही उनका देहावसान हो गया। इसमें से भी प्रारंभिक के १६-१७ वर्ष निकाल देने चाहिएँ, क्योंकि इनका सार्वजनिक जीवन—इनकी जगन्नाथ-यात्रा के बाद से आरम्भ होता है जो इन्होंने सन् १८६५-६६ मे की थी। केवल १७-१८ वर्ष के भीतर इन्होंने जितना अधिक कार्य कर दिखाया उतना किसी साधारण व्यक्ति से संभव नहीं। इन्होंने कई स्कूल, क्लब, सभा, पुस्तकालय आदि स्थापित किए तथा कई पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं। कुछ परीक्षाएँ भी नियत कीं, जिनमें स्वयं पारितोषिक दिया करते थे, तथा सब मिलाकर लगभग पौने दो-सौ ग्रन्थ बनाए और ७५ ग्रंथों के बनाने मे प्रेरक का कार्य किया।

ईश्वर-दत्त प्रतिभा तो उनमें थी ही, परन्तु उनके मन और हृदय के विकास में उनके भ्रमणों का उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। उन्होंने यात्राएँ खूब कीं जिससे जगह-जगह के रीति-रिवाज, विचार-प्रणाली, नई सभ्यता और उससे उत्पन्न नई समस्याओं

का अध्ययन करने का उन्हें अच्छा मौका मिला। वे बड़े भावप्रवण थे और उनका हृदय स्वाभाविक सहानुभूति, सरसता और सत्य से भरा हुआ था। फलतः इन की यात्राओं के परिणाम में हम उन्हें बड़े ऊँचे देशभक्त, समाज-सेवी और समाज-सुधारक के रूप में देखते हैं। उनका साहित्य देश के लिए दर्द से भरा हुआ है, समाज की कुरीतियों पर व्यंग्य करता है, अथवा फिर उनका उपहास करता है और मर्मस्थलों पर कोमलता तथा सहृदयता से स्पर्श करता है। साहित्य में भी उन्होंने सुधार और पथ-प्रदर्शन किया। उन्होंने खड़ी बोली गद्य का एक प्रांजल सुसंस्कृत रूप स्थापित किया तथा व्रजभाषा-कविता की अव्यंजकता, अबोध्यता को हटाया—उसमें से परंपरायुक्त, दुर्बोध्य शब्दावली को निकाल कर सरस भावुक कविता की नींव डाली। नाटक-रचना का अवतार भी हिन्दी साहित्य में इन्हीं से होता है। इनके पहले के जो दो एक नाटकों के नाम सुनाई देते हैं, वे नगण्य से हैं।

यों तो भारतेन्दु ने ईश्वरभक्ति, राजभक्ति, इतिहास आदि के सम्बन्ध में भी यथेष्ठ लिखा है, एक-दो अधूरे उपन्यासों की भी रचना की है, परन्तु उनका पूर्ण गौरव कवि तथा नाटककार—विशेष रूप से नाटककार—की हैसियत से ही है।

मिश्रबंधुओं ने अपने हिन्दी-नवरत्न में इनके १९ नाटक गिनाए हैं। रा० ब० बाबू श्यामसुन्दरदास के अनुसार भारतेन्दु ने १४ नाटक लिखे। इन नाटकों मे कई तो संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेज़ी के अनुवाद हैं, कुछेक अपूर्ण हैं। रायबहादुर साहब के कथनानुसार इन्होंने सात मौलिक नाटकों की रचना की। संभवतः

अपूर्ण मौलिक नाटकों की भी इनके साथ ही गणना कर मिश्रबंधुओं ने इस संख्या को नौ बतलाया है।

यद्यपि भारतेन्दु अनुवाद कर्म में भी पूर्ण सफल हुए हैं—उनके अनूदित नाटकों में मौलिक रचना का सा आनन्द आता है—तथापि उनके निजी गुणों की खोज उनकी मौलिक रचनाओं में की जा ही सकती है। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"; 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'भारतदुर्दशा', 'नीलदेवी', 'विषस्य विषमौषधम्' और "अन्धेर नगरी" मौलिक नाटक हैं। इनमे 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' बहुत प्रसिद्ध हैं, और स्वयं भारतेन्दु को भी वे बहुत पसन्द थे। सत्य भारतेन्दु का जीवन व्रत था। सत्य हरिश्चन्द्र को भगवदर्पण करते हुए वे कहते हैं—तुम्हारे सत्यपथ पर चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं, यही इसमें दिखाया गया है'। नाटक के अन्दर नारद जी कहते हैं—

चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचन्द को टरै न सत्यविचार॥

यहाँ राजा हरिश्चन्द्र का भी संकेत है, क्योंकि प्रस्तावना में सूत्रधार पहले ही कह चुका है।

जो गुन नृप हरिचन्द मैं जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचन्द मैं, लखहु प्रतच्छ सुजान॥

इसी नाटक का भरत-वाक्य है—

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइँ, हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहि, सब जग सुख लहै।
तजि ग्रामकविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै॥

नाटक के उपक्रम में भारतेन्दु ने बताया है कि यह रचना स्कूलों के लड़कों के पढ़ने-पढ़ाने के लिए बनाई गई थी, फलतः इसमें शृंगार का अभाव है। परन्तु स्कूलों मे पढाई जाने वाली पुस्तक मे भी 'स्वत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै' आदि जैसी बातें लिखना—वह भी एक ऐसे समय मे जब कि लिखने-बोलने की स्वतंत्रता जनता को उतनी भी प्राप्त नहीं थी जितनी कि आजकल है—भारतेन्दु की परम देशभावना, निर्भीकता और स्पष्टवादिता का द्योतक है।

उत्कट जातीय भावना तथा देश-हितैषिता की सच्ची लगन में अनेकानेक भावों का सम्मिश्रण रहता है, पूर्व गौरव की स्मृति, आत्मग्लानि, लांछना, व्यंग्य, फटकार, कातरता, उद्योग आदि की भिन्न भिन्न वृत्तियाँ समय पर अपनी क्रीडा किया करती हैं। 'भारतदुर्दशा' पूर्ण राष्ट्रीय नाटक है और उसमे ये सब वृत्तियाँ हृदय के सच्चे सयोग के साथ स्थल स्थल पर दिखाई देती हैं। छठे अंक के आरम्भ मे भारत-भाग्य कह रहा है—

हाय भारत को आज क्या हो गया है ? क्या निस्संदेह परमेश्वर उससे ऐसा ही रूठा है ? हाय क्या भारत के वे दिन फिर न आवेंगे ? हाय यह वही भारत है, जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि गिना जाता था ?

भारत के भुज बल जग रच्छित, भारत-विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत विस्तारा, भारत-भय कंपत संसारा।
जाके तनिकहिं भौंह हिलाये, थर-थर कंपत नृप डर पाए।
जाके जय की उज्ज्वल गाथा, गावत सब महि मंगल साथा।
कहा करी तकसीर तिहारी, रे विधि रुष्ट याहि की बारी।
सबै सुखी जग के नर नारी, रे बिधिना भारतहि दुखारी।

हाय चितौर निलज तू भारी, अजहुँ खरो भारतहि मझारी।
जा दिन तुव अधिकार नसायो, तेहि दिन क्यो नहिं धरनि समायो।

भारत-दुर्दैव ने पूर्ण रूप से भारत का पीछा पकड़ लिया है। वह भारत को खाक में मिला देने के लिए कटिबद्ध है और उसने अपनी सेना तैयार कर रक्खी है। अपनी तैयारी पर वह इस प्रकार सन्तोष प्रकट करता है—

अब भारत कहाँ जाता है, ले लिया है। एक तस्सा बाकी है। अबकी हाथ में वह भी साफ़ है। भला हमारे बिना और ऐसा कौन कर सकता है कि अँगरेजी अमलदारी में भी हिन्दू न सुधरें। लिया भी तो अँगरेजों से औगुन ? हहाहा। कुछ पढे-लिखे मिल कर देश सुधारा चाहते हैं। हहा हाहा ! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगो को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो। है। हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते है, मूर्ख। वह क्यों ? मैं अपनी फौज ही भेजके न सब चौपट करता हूँ। (नेपथ्य की ओर देख कर) अरे कोई है ? सत्यानाश फ़ौजदार को तो भेजो।

रोग, आलस्य, मदिरा, अहंकार आदि-दुर्दैव के सैनिक हैं। ये सब अपने अपने उपाय तथा कारनामों का बयान करते हैं। आलस्य कहता है—

हहा। एक पोस्ती ने कहा, पोस्ती ने पी पोस्त नौ दिन चले अढ़ाई कोस। दूसरे नें जवाब दिया, अबे वह पोस्ती न होगा डाक का हरकारा होगा। पोस्ती ने जब पी पोस्त तो या कूँडी के उस पार या इस पार। ठीक है .. ..

दुनिया में हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर-जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा।
बिस्तर पै मिस्ल लोथ पड़े रहना हमेशा।
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा।
सिर भारी चीज है, इसे तकलीफ हो तो हो।
पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा।

और क्या। काजी जी दुबले क्यों हैं, शहर के अंदेशे से। अरे 'कोउ नृप होउ हमैं का हानी, चेरि छाँड़ि नहिं होउब रानी।' आनन्द से जन्म बिताना। बस खाना . . . . बात बनाना, ताने मारना और मस्त रहना। अमीर के सिर पर और क्या सुरखाब का पर होता है, जो कोई काम न करे वही अमीर। तवंगरी बदिलस्त न बमाल। दोई तो मस्त हैं या मालमस्त या हालमस्त . . .

भारत की दुर्दशा को देखकर कवि जब बहुत ही कातर और विह्वल होता है तो 'नीलदेवी' में करुणानिधि का आँचल पकड़ता है—

कहाँ करुनानिधि केसव, सोए।
जागत नेकु न जदपि बहुते विधि भारतवासी रोए।
एक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारत हित बिसराए,
इत के पसु-गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए।
यक-यक दीन, हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई,
अपनी संपति जानि इनहिं तुम गयो तुरंतहि धाई।
प्रलय-काल सम जौन सुदरसन असुर-प्रान-संहारी,
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी।

इसकी अन्तिम पंक्ति में जितनी वेदना और शिकायत भरी

हुई है उसको अनुभव एक विप्रलब्ध आर्त हृदय को सहज में ही हो सकता है—परन्तु केवल रोने से या दुर्दशा को देखते रहने से क्या कुछ सधता है ? इसलिए—

चलहु वीर, उठि तुरत सबै जय-ध्वजहिं उड़ाओ,
लेहु म्यान सो खग्ग खींचि, रन-रंग जमाओ।
परिकर कसि कटि उठौ धनुस पै धरि सर साधौ,
केसरिया बानो सजि सजि रन-कंकन बाँधौ।
जौ आरजगन एक होय निज रूप सँभारैं,
तजि गृह-कलहहि अपनी कुल-मरजाद विचारैं।
तौ ये कितने नीच, कहा इनको बल भारी,
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी।
तनिकहु संक न करहु, धर्म जित जय तित निश्चय,
पदतल इन कहँ दलहु कीट-तृन-सरिस जवन-चय।

तथापि यह नहीं समझा जाना चाहिए कि भारतेन्दु राजद्रोही थे। देशभक्ति का अर्थ राजद्रोह नहीं है, यद्यपि भारतेन्दु को अपनी स्पष्टवादिता के (तथा कुछ दूसरों के मात्सर्य) के कारण, थोड़े-से राज-कोप का भी भाजन बनना पड़ा था। उन्होने राज-भक्ति पूर्ण कविताएँ भी लिखी हैं तथा कई नाटकों में भी राज-भक्ति-सूचक उक्तियों का समावेश किया है। वास्तव में भारतेन्दु के क्षोभ का सबसे बड़ा कारण थीं भारतवासियों की अनेक हानि-कारक अंध-परंपराएँ, दुर्गुण वृत्तियाँ, तथा अँगरेजी शासन में पैदा हुई भारतीयो की अकल्याणकरी अनुकरण प्रवृत्ति। 'नीलदेवी' उनका एक प्रमुख जातीय नाटक है और इसकी रचना में अपने कई अन्य नाटकों की अपेक्षा वे अधिक सफल भी हुए हैं। इस

की प्रस्तावना में अपने ध्येय को उन्होंने इस तरह समझाया है—

"आज बड़ा दिन है। क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनन्द का दिन नहीं है। किंतु मुझको आज उलटा और दुःख है·····जब मुझे अँगरेजी रमणी लोग मेद-सिंचित केश-राशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविधवर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटि-देश कसे, निज निज पतिगण के साथ, प्रसन्नवदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखाई पड़ती है तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुललक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें। किंतु और बातों में जिस भाँति अंगरेज़ी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती है, अपनी जाति और अपने देश की संपत्ति विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत गृहस्थ जीवन को व्यर्थ गृह-दास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृहदेवता भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्त्तमान कुलपरंपरामात्र है और कुछ नहीं है।"

अपनी भारत-हितैषिता के कारण अंग्रेजों के कृपापात्र राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द से इनका सैद्धांतिक विरोध था, यद्यपि वैसे ये इनको अपने गुरु के समान भी मानते थे। दोनों में भाषा-संबंधी भी बड़ा भारी मत-भेद था। राजा साहब की भाषा उर्दूप्रधान थी तो इनकी यथार्थ हिन्दी। दोनों के भेद और विरोध इतने स्पष्ट

थे कि ये व्यवहार तक में दृष्टिगोचर होते थे। कहा जाता है कि बाबू हरिश्चन्द्र को जनता द्वारा 'भारतेन्दु' की उपाधि दिया जाना, अपने वास्तविक रूप में, राजा साहब को सरकार द्वारा 'सितारे-हिन्द' की उपाधि मिलने की प्रतिक्रिया मात्र था।

भ्रम हो सकता है कि भारतीय दुर्दशा के संबंध में इनकी यह करुणा तथा इनके व्यवहारिक जीवन में विरोधों की बहुलता ने इनकी चित्तवृत्ति को बहुत गंभीर अथवा उदासीन बना दिया होगा। पर वस्तुतः वे बड़े जिंदादिल, विनोदप्रिय, और जिसे बोलचाल की भाषा में 'फक्कड़' कहते हैं सो, थे। इन्हें तरह-तरह के शोक थे—जैसे गाना-बजाना, नाच-रंग, खेल-तमाशे, कबूतर-बाजी आदि। कोई कैसा भी उदास-चित्त मनुष्य इनके पास पहुँच जाए, पर वह हँसता ही लौटता था। 'फक्कड़' ऐसे थे कि एक बार काशी-नरेश ने इन्हें इनकी फ़िजूलखर्ची के संबंध में कुछ समझाया तो इन्होंने उत्तर दिया, "महाराज, इस संपत्ति ने मेरे पूर्वजों को खाया है। अब मैं इसे खा कर छोड़ूँगा।" इनकी जिंदादिली इनके साहित्य को भी प्रभावित किए बिना नहीं रही है। 'अंधेर-नगरी' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इनके दो व्यंग्यात्मक प्रहसन हैं। तथा 'विषस्य विषमौषधम्" एक राज्य की तात्कालिक घटना को लेकर हास्य तथा व्यंग्य के ढंग पर लिखा गया है। दो एक उदाहरण इस कथन को स्पष्ट कर देंगे, यथा—

(१) चूरन अमलबेद का भारी, जिसको खाते कृष्ण मुरारी।
मेरा पाचक है पँचलोना, जिसको खाता स्याम सलोना।
हिन्दू-चूरन इसका नाम, विलायत-पूरन* इसका काम।

---

* इसकी चुटीली चुटकी द्रष्टव्य है। 'हिंदू' नामक चूर्ण, अथवा हिंदुओं को चूर्ण करने वाला। तभी तो विलायत का घर भरने वाला है।

चूरन अमले सब जो खावैं, दूनी रिश्वत तुरत पचावैं।
चूरन नाटकवाले खाते, इसकी नकलें पचाकर लाते।
चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते।
चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल-अजीरन रोग।
चूरन खावैं एडिटर जात, जिनके पेट पचै नहिं बात।
चूरन पूलिसवाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।

(अन्धेर नगरी)

(२) अंधेर-नगरी अनबूझ राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा।

... ...

साँचे मारे-मारे डोलैं, छली-दुष्ट सिर चढि चढि बोलैं।
प्रकट सभ्य अन्तर छलधारी, सोई राज-सभा बल भारी।
साँच कहै ते पनही खावैं, झूठे बहुविधि पदवी पावैं।
भीतर होइ मलिन की कारो, चहिए बाहर रँग चटकारो।
धर्म-अधर्म एक दरसाई, राजा करै सो न्याव सदाई। (अंधेर०)

(३) राजा-बैठिए

वेदान्ती—अद्वैतमत के प्रकाश करनेवाले भगवान् शंकराचार्य इस मायाकल्पित मिथ्या संसार से तुमको मुक्त करें।

विदूषक—क्यों वेदान्तीजी, आप मांस खाते हैं कि नहीं ?

वेदान्ती—तुमको इससे कुछ प्रयोजन है ?

विदू०—नहीं, प्रयोजन तो नहीं है। हमने इस वास्ते पूछा कि आप वेदान्ती अर्थात् विना दाँत के है सो भक्षण कैसे करते होंगे।

(वेदान्ती टेढ़ी दृष्टि से देखकर चुप रह गया। सब लोग हँस पड़े।)

विदू०—(बंगाली से) तुम क्या देखते हो ? तुम्हें तो चैन है। बंगालीमात्र मच्छ-भोजन करते हैं।

बंगाली—हम तो बंगालियों में वैष्णव हैं। नित्यानन्द महाप्रभु के संप्रदाय में हैं और मांस-भक्षण कदापि नहीं करते और मच्छ तो कुछ मांस-भक्षण में नहीं।

(वैदिकी हिंसा०)

(४) मीन काटि जल धोइए, खाए अधिक पियास।
अरे तुलसी प्रीति सराहिए, मुए मीत की आस॥

राम रस पीओ रे भाई

अरे मीन पीन पाठीन पुराना भरि भरि भार कहारन आना।
महिष खाइ कर मदिरा पाना अरे गरजा रे कुंभकरन बलवाना॥

रामरस पीओ रे भाई

... ...

अरे एकादशी के मछली खाई।
अरे कबौं मरे बैकुंठै जाई॥

रामरस पीओ रे भाई

(वैदिकी हिंसा०)

(५) सन् १८०२ में जो अहदनामे हुए हैं उनमें तो सरकार को गायकवाड़ की खानगी बातों में बिलकुल अधिकार है। फिर यह रोना क्या? हम तो जानते है कि जब मल्हारराव ने लक्ष्मीबाई से विवाह किया तभी से उसकी बड़ी बहन दरिद्राबाई भी इनकी ताक में थी और समय पाकर अपनी बहन के पास आगई। शास्त्रों में लिखा है कि लक्ष्मी दरिद्रा दोनों बहन है। पर भाई! यह कन्या फली नहीं, मुद्राराक्षस की विषकन्या हो गई।

और नहीं तो क्या! या बगल में माहताब हो या आफताब, या साकी हो या शराब। भला रावण इनसे बढ़कर था कि ये रावण से बढ़के? एक

बात में तो ये रावण से बढ़ गए कि ऐसे काल में और सरकार के राज्य में इन्होंने ऐसा उपद्रव किया...मुहम्मदशाह और वाजिद अली शाह तो मुसलमान होके छूटे पर मल्हारराव का कलंक हिन्दुओं से कैसा छूटेगा। विधवा-विवाह सब कराया चाहते हैं पर इसने सौभाग्यवती-विवाह निकाला। भला मुसलमान होता तो तलाक दिलवा के भी हलाल कर लेता ...

(ऊपर देख कर) क्या कहा ? और खानदेश का एक कुमार गद्दी पर बैठा भी तो दिया गया। लो भया तब क्या ? हहाहा ! भला तब हम क्या इतना झंखते थे। अहा धन्य है सरकार ? यह बात कहीं नहीं है। दूध का दूध पानी का पानी। और कोई बादशाह होता तो राज जप्त हो जाता। यह इन्हीं का कलेजा है। हे ईश्वर, जब तक गंगा-यमुना में पानी है तब तक इनका राज स्थिर रहे ! अहा ! हमारी तो पुरोहिती फिर जागी। हमें मल्हारराव से क्या काम; हमें तो उस गद्दी से काम है। "कोउ नृप होउ हमैं का हानी" ! धन्य अंगरेज।

... (विषस्य विषमौषधम्)

ऊपर के पाँचवें उदाहरण में प्रसंग परस्त्री-गमन के कारण महाराज मल्हारराव के गद्दी से उतारे जाने का है। 'विषस्य विषमौषधम्' एक 'भाण' रचना है जिसमें एक व्यक्ति आरम्भ से अन्त तक बोलता है। यहाँ भँडाचार्य नामक पात्र बोल रहा है इसकी उक्ति में स्पष्ट अर्थ तो जो है सो है ही; परन्तु बारीक व्याज-स्तुति की झिल-मिल झलक ही, वास्तव में इस उक्ति का प्राण है।

साहित्यिक सौंदर्य—सरलता, भावुकता, कल्पना, चमत्कार की दृष्टि से 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' इनके सर्वश्रेष्ठ नाटक हैं। 'चन्द्रावली' में तो विशेषतः ये पूर्ण कवि-रूप में

अवतरित हुए हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में गंगा का निम्नलिखित वर्णन कितना मनोमोहक है। प्रत्यक्ष-चित्रण की पूर्ण गरिमा है, चित्र में प्राण जैसे छलछला रहे हों।—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै यक इमि आवत,
जिमि नरगन मन बिबिध मनोरथ करत मिटावत।
सुभग स्वर्ग-सोपन सरिस सब के मन भावत,
दरसन, मज्जन, पान त्रिबिध भय दूर मिटावत।
कहूँ बँधे नवघाट उच्च गिरिवर सम सोहत,
कहुँ छतरी, कहूँ मढी बढी मन मोहत जोहत।
धवल धाम चहुँ ओर, फरहरत धुजा पताका,
घहरत घँटा-धुनि, धमकत धौंसा, करि साका।
धोवत सुन्दरि बदन करन अति ही छबि पावत,
बारिज नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत।
सुन्दरि ससि-मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत,
कमल-बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत।
दीठि जहीं जहँ जाति, रहति तितही ठहराई,
गंगा-छवि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई।

'कहूँ बँधे नवघाट से' लेकर अन्त तक पढ़ते-पढ़ते पाठक के नेत्रों के सामने एक दृश्य सा उपस्थित हो जाता है जो कुछ क्षण के लिए तल्लीनता की अवस्था उत्पन्न कर देता है। इसमें 'बारिज नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत' मे जो काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा का सम्मिलन है वह कोमल कल्पना की एक अपूर्व

सरसता और मौलिकता का प्रसाद है।

'चन्द्रावली' में प्रेम-व्यथित नायिका अपनी दशा का वर्णन करती है—

मनमोहन तें बिछुरी जब सों,
तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
हरिचन्द जू प्रेम के फंद परी,
कुल की कुल लाजहिं खोवती हैं।
दुख के दिन को कोउ भाँति बितै;
बिरहागम रैन संजोवती हैं।
हमही अपुनी दशा जानैं सखी,
निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं॥

अन्यत्र वही कह रही है—

जग जानत कौन है प्रेम-बिथा,
केहिसों चरचा या वियोग की कीजिए।
पुनि को कही मानै कहा समुझै कोउ,
क्यों बिन बात की रारहि लीजिए।
नित जो हरिचन्द जू बीतै सहै,
बकि कै जग क्यों परतीतहि छीजिए।
सब पूछत मौन क्यों बैठि रही,
पिया प्यारे कहा इन्हैं उत्तर दीजिए।

प्रकृति-वर्णन मे सन्देह के साथ उत्प्रेक्षा का तथा दृश्य-चित्र का निम्न पंक्तियों में अच्छा समावेश है। यह कालिन्दी का वर्णन है—

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल-परसन हित मनहुँ सुहाए॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज शोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप बारन तीर कों सिमिटि सबै छाए रहत।
कै हरि-सेवा-हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥
कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहूँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रही पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज शोभा।
कै उमगे पिय प्रिया प्रेम के अगनित गोभा॥
कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥

... ...

कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उड़त कहूँ जल कुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहूँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत॥
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर विविध पच्छी करत।
जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत॥

कहूँ बालुका विमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्ज्वल झलकत रजत सीढ़ि मनु सरस सुहाई॥
पिय के आगम हेतु पाँवड़े मनहुँ बिछाए।
रत्नरासि करि चूर कूल में मनु बगराए।

मनु मुक्त माँग सोभित भरी, श्याम नीर चिकुरन परसि।
सतगुन आयो कै तीर मैं, व्रज निवास लखि हिय हरसि॥

प्रकृति के भिन्न भिन्न पदार्थों को देखकर प्रिय के भिन्न भिन्न अंगों का स्मरण होना, भावना के अतिशय होने पर, प्रकृति को प्रियमय बनाना है; प्रकृति गोया कि प्रिय का छाया-चित्र है। "देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक पीतपट छोरे मेरे हिय फहरि-फहरि उठै" जैसी कविता इसी प्रकार के छायाचित्रों को प्रस्तुत करती है। प्रकृति को संबोधन करके प्रिय का समाचार पूछने वाली नायिका उन्मादिनी हो सकती है, पर जो कवि उससे ऐसा कराता है वह तो प्रकृति में भी मानव-प्राणों के स्पन्दन को ही देखता है, प्रकृति को मानवीय सहानुभूति से समृद्ध ही समझता है। और, सचमुच, प्रकृति से यदि मनुष्य को सहानुभूति और आश्वासन की प्राप्ति नहीं होती तो मनुष्य को प्रकृति से सरोकार ही क्या है? तुलसीदास के विरही राम 'खग-मृग और मधुकर-श्रेणी, से सीता का पता पूछते समय कोरा असंबद्ध प्रलाप नहीं करते हैं, उनके आचारण मे एक परम सूक्ष्म जीवन-तन्तु की समस्या, समीक्षा और समाधान, तीनों तत्त्व, एक साथ निहित हैं। इसी प्रकार हरिश्चन्द्र की चन्द्रावली भी अपने प्रिय की खोज में 'अहो, अहो' की पुकार मचाती हुई 'बन के रूख', कदंब, कुंज, वन, लता, जमुना, खग, मृग, गोवर्धन आदि सबका आह्वान करती फिरती है। भारतेन्दु ने प्रकृति और मानव जीवन के पारस्परिक बिंब-प्रतिबिंब भाव को समझने की चेष्टा की है, और इस सरस, सकरुण, संयोगान्त नाटिका ('चन्द्रावली') मे उनको प्रकृति-दर्शन का सबसे अधिक अवसर प्राप्त हुआ है।

तथापि उनके समस्त रचना-समूह पर दृष्टिपात करने से यही अनुमान होता है कि अधिकतर वे प्रकृति की ओर से उदासीन ही थे। वे प्रकृति के कवि नहीं थे।

भारतेन्दु आशु कवि थे। वे तत्काल कविता बनाते थे और वे जन्मतः ही कवि थे। पाँच वर्ष की उम्र में ही, उन्होंने यह दोहा बनाया था—

> लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
> बानासुर की सैन को हनन लगे बलवान॥

वे उर्दू के ढंग की शायरी भी रच सकते थे।

ऊपर जितने गद्य और पद्य के उदाहरण दिए गए हैं उन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने दोनों प्रकार की भाषा के रूप-गठन में क्या कार्य किया है। उनसे पहले खड़ी बोली का कोई यथार्थ रूप ही न था। उसमें ब्रजभाषा का थोड़ा-बहुत मिश्रण तो रहता ही था, परन्तु प्रकारान्तर मे भी, उसकी कोई निर्दिष्ट रूपरेखा न थी। 'प्रेमसागर' में एक नमूना देखने में आता है तो 'रानी केतकी की कहानी' मे इससे बिलकुल भिन्न। भारतेन्दु ने शुद्ध खडी बोली लिखी जिसकी जंग खाई हुई शृंखलाओं को तोड़ कर इन्होंने उसमें लचक पैदा की। यद्यपि यह उर्दूमिश्रित हिन्दी के पक्षपाती नहीं थे तथापि कहीं कहीं चालू उर्दू शब्दों का प्रयोग करने में इन्होंने अधिक संकोच भी नहीं किया। साथ ही पात्रविशेष के मुख से उसकी विशेषता दिखाने के लिए इन्होंने उक्ति के बीच में कहीं कहीं अंगरेजी शब्द जैसे पोलिसी, डिसलायल्टी, मेडल आदि भी कहलाए हैं। इनके गद्य में जटिल अलंकार-स्पृहा अधिक देखने मे नहीं आती। नाटकों में अधिकतर

बोलचाल की चुस्ती दिखाई देती है। भारतेन्दु की भाषा उनके समसामयिक तथा अनुगामी लेखकों के लिए आदरणीय व अनुकरणीय हुई।

पद्य के लिए इन्होंने ब्रजभाषा को ही अपनाया। यह शायद इसलिए कि ब्रजभाषा में माधुर्य अधिक है, अथवा इसलिए कि इनके समय तक खड़ी बोली साहित्यिक भाषा की पदवी तक न पहुँच सकी। परन्तु इस ब्रजभाषा में भी उन्होंने सुधार किया। शब्दों की तोड़-मरोड़, जो पिछले कवियो में अधिक बढ़ गई थी, इन्होंने बिलकुल भी नहीं की। इनकी ब्रजभाषा सरल, सुबोध और प्रसाद तथा माधुर्य गुणों से युक्त है। यदि कहीं कोई दुर्बोधता आती भी है तो केवल वहाँ जहाँ वह पिछले समय की कृत्रिम अलंकार-प्रणाली का अनुसरण करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे चन्द्रावली अपने नेत्रों को हिंडोला बनाती हुई कहती है—

> पल पटुला पै प्रेम डोर की लगाय चारु
>
> आभा ही के खंभ दोय गाढ के धरत हैं।
>
> झुमका ललित कामपूरन उछाह भरयो
>
> लोक बदनामी झूमि झालर झरत हैं॥
>
> हरीचन्द आँसू दृग नीर बरसाई प्यारे
>
> पिया गुन गान सो मलार उच्चरत हैं।
>
> मिलन मनोरथ के झोटन बढाई सदा
>
> बिरह हिंडोरे नैन झूल्योई करत हैं॥

अन्यथा तो भारतेन्दु में भावुकता और सरसता ही सबसे अधिक है जिसके कारण उनकी रचनाएँ अति मोदकारी और प्रभावशालिनी हो गई हैं। इन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह

अंतर की प्रेरणा से भावमग्नता से ही लिखा है। अतः इनकी नाटकीय और काव्य रचनाओं में तत्कालीन स्पर्श और प्रभाव की शक्ति है। काव्य द्वारा धनोपार्जन की लालसा इन्हें नहीं थी, यह इतने उदार थे कि स्वयं दूसरे कवियों—लेखकों को दिया करते थे। परंतु यश की लालसा का होना असंभव नहीं, क्योंकि इन्हें अपने गुणों और शक्तियों का ज्ञान था जिन्हे अपने सूत्रधारों के मुख से इन्होंने प्रायः कहलवाया है, यथा—

परम प्रेमनिधि रसिक वर, अति उदार गुन खान
जग जन रंजन आशु कवि, को हरिचंद समान।
जिन श्रीगिरधरदास कवि, रचे ग्रंथ चालीस,
ता सुत श्रीहरिचंद को, को न नवावै सीस।
जग जिन तृन सम करि तज्यो, अपने प्रेम प्रभाव,
करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नाँव।
चंद टरै, सूरज टरै टरै जगत के नेम,
यह दृढ श्रीहरिचंद को, टरै न अविचल प्रेम।

भारतेन्दु के अनुवादों में भी मौलिक रचना का सा आनन्द आता है, यह पहले कहा जा चुका है। यहाँ एक उदाहरण (मुद्राराक्षस के नान्दी-पाठ में से) दिया जाता है—

कौन है सीस पै चंद्रकला कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी,
हाँ यही नाम है भूल गई किमि जानत हू तुम प्रान पियारी।
नारिहि पूछत चंद्रहिं नाहिं कहै विजया जदि चंद्र लबारी,
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी।
पाद प्रहार सों जाइ पताल न भूमि सबै तनु बोझ के मारे,
हाथ नचाइबे सों नभ में इत के उत टूटि परैं नहि तारे।

देखन सों जरि जाहिं न लोक न खोलत नैन कृपा उर धारे,
यों थल के बिनु कष्ट सों नाचत शर्व हरौ दुख सर्व तुम्हारे।

भारतेंदु हिंदी के लिए एक देवदूत या पैगंबर के रूप में अवतीर्ण हुए थे। नाटक-रचना के तो वे जन्मदाता हैं ही, परंतु यदि कहा जाय कि हिंदी-भाषियों में साहित्यिक अभिरुचि एवं साहित्यिक जिज्ञासा उत्पन्न करके एक प्रकार से आधुनिक हिन्दी साहित्य के भी प्रतिष्ठापक वही हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्या हम निश्चय के साथ बता सकते हैं कि यदि भारतेन्दु का अवतार न हुआ होता तो हिन्दी के पिछले ५०-६० वर्षों का क्या इतिहास बना होता ?

भारतकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त

बाबू मैथिलीशरणगुप्त का जन्म संवत् १९४३ में हुआ। ये अग्रवाल वैश्य हैं और चिरगाँव जिला झाँसी के रहने वाले हैं। वहीं इन्होंने एक प्रेस भी खोल रक्खा है और अपनी पुस्तकें स्वयं ही प्रकाशित करते हैं। गुप्तजी अपने को पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का शिष्यवत् समझते हैं, ऐसा कहा जाता है। जब द्विवेदीजी 'सरस्वती' का संपादन करते थे तब गुप्त जी ने अपनी कविताएँ उक्त पत्रिका मे प्रकाशित कराना आरंभ किया था। इनकी प्रथम पुस्तकाकार रचना 'भारत-भारती' सं० १९६९ मे प्रकाशित हुई जिससे इनकी एकदम प्रसिद्धि हो गई। गुप्त जी ३० वर्ष से हिन्दी सेवा कर रहे हैं। इनकी अब तक लगभग तीन दर्जन छोटी बड़ी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें एक महाकाव्य, कई एक

खंडकाव्य, कुछ फुटकर रचनाएँ, दो या तीन नाटक तथा पाँच या छः पद्यबद्ध काव्यानुवाद हैं।

गुप्तजी की मौलिक रचनाओं से उनके व्यक्तित्व के संबन्ध में हमें कई आवश्यक तथ्य प्राप्त होते हैं जिनकी कि मूलभूत प्रेरक-शक्ति ही उनके निर्मित साहित्य की रूपविधात्री है। सर्वप्रथम हम इनकी भगवद्विषयक भावनाओ को देखेंगे।

अधिकांश लोग ईश्वर के संबन्ध मे जिस प्रकार की सगुण निर्गुण मिश्र धारणाएँ रखते हैं; सामान्यतः उनको अमान्य न करते हुए गुप्तजी विशेषतः सरकार राम के अनन्य भक्त हैं। दाशरथि राम इनके इष्टदेव हैं। इन इष्टदेव के प्रति इनकी भक्तिभावना इतनी गहरी है कि उसकी तीव्र संवित्ति में ये परोक्ष ढँग से निराकार वादियों, और प्रत्यक्ष में किसी रामेतर ईश्वर, को क्षमायाचनापूर्वक प्रत्याह्वान तक करने को तैयार हैं। ये पूछते हैं और फिर कहते हैं।

> राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?
> बिश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
> तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करें,
> तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे।

इनके राम कृष्ण से भिन्न नहीं है और गुप्तजी ने कृष्ण को स्वयं 'हरि' आदि कह कर उपलक्षित भी किया है (यथा युधिष्ठर के इन शब्दो में—'स्वयं हरि हैं वे, पुरुषोत्तम') तथापि इनका हृदय तुलसीदास जी की भाँति, राम के रूप से ही द्रवित होता है, जैसे—

धनुर्बाण या वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम ! दूसरा रंग ॥

गुप्तजी के हृदय की इस राम-मयता का एक सबल प्रमाण यह है कि इनकी जो रचनाएँ महाभारत के कथानकों के आधार पर हैं उसमें भी मंगलाचरण का पद्य प्रायः रामोन्मुख या रामचरितोन्मुख ही रहता है। इनका यह राम अपने प्राकृत अथवा अप्राकृत, किसी भी, रूप में, पूर्ण परब्रह्म है और अपनी माया के खेल खेलता रहता है। राम सर्वत्र व्याप्त है—'रमा है सब में राम'—और उस कौतुकी को संबोधित करके गुप्तजी कहते हैं—

अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया।
खोलूँ जब तक पलक, कौतुकी, तुमने पेड़ लगाया ॥
भाँति भाँति के फूल खिले हैं, रंग रूप रस गंध मिले हैं।
भौंरे हर्ष-समेत मिले हैं, गुंजारव है छाया ॥ अच्छा इन्द्रजाल०
यह जो अम्लमधुर फल लाया, उसने किसे नहीं ललचाया।
वह पछताया जिसने खाया, और न जिसने खाया ॥ अच्छा इन्द्रजाल०
फल में स्वाद, सुगन्ध कुसुम में, पर है मूल कहाँ इस द्रुम में ?
राम तुम्हारी माया, अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया ॥

निर्गुण से सगुण साकार बन कर 'लीलाधाम' 'अखिलेश' 'राम' अपनी भक्तवत्सलता का परिचय देता है, जिसमें उसका उद्देश्य है—'पथ दिखाने के लिए संसार को, दूर करने के लिए भूभार को।' उसकी भक्तवत्सलता कवि को दासभाव की ओर प्रवृत्त करती है, परन्तु उस भक्तवत्सलता की उदारता में एक और भी अनुभव होता है—

डरता था मैं तुमसे स्वामी, किन्तु सखा था तू सहगामी।

मैं भी हूँ अब क्रीड़ा कामी...... .....

जिसके कारण प्रियतम और प्रियतमा का संबंध भी दूर नहीं रह जाता—

अच्छी आँख मिचौनी खेली।

बार बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली॥

इस संबंध में उलाहना देने का भी अधिकार कवि अपना लेता है—

तुम्हीं भर देते हो प्याला।

और बताने लगते हो फिर तुम्हीं मुझे मतवाला॥

तथा विश्रंभ की अवस्था का अनुभव करता हुआ, बेतकल्लुफ़ बनता हुआ सा, उससे पूछता है—

बतला दो संकोच छोड़ कर, तुम किसमें प्रसन्न होगे।

मुझ से अपने को लोगे तुम, अथवा मुझको ही लोगे॥

परन्तु समय समय पर इन भिन्न भिन्न भावनाओं के उठने पर भी, गुप्तजी का मुख्य भाव तो दासभाव तथा भक्ति का ही है; इनके स्फुट संग्रह झंकार से इनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों का पता मिलता है। दासभाव की भक्ति के साथ दैन्य का जो संयोग रहा करता है वह भी गुप्तजी में हमें दिखाई देता है, यथा—

आया यह दीन आज चरण-शरण आया।

हाय, सौ उपाय किए फल न एक पाया॥ ..

सर्व अहंकार गर्व, नाथ हुआ आज खर्व,

पाऊँ अब प्रगति पर्व; मिटे मोह माया॥ आया यह दीन०॥

भक्ति की अनन्यता का रूप हमें निषाद-राज के निम्नलिखित वचनों में मिलता है जिस समय कि गंगा पार उतरने के बाद

सीता उसको स्वर्ण मुद्रिका भेंट देने लगी थीं—

……………… …………यह कैसी कृपा ?
न हो दास पर देवि, कभी ऐसी-कृपा।
क्षमा करो, इस भाँति न तज दो मुझे।
स्वर्ण नहीं, हे राम, चरण-रज दो मुझे॥

उस भक्तवत्सल लीलाधाम लोकेश को अपना इष्टदेव बनाने के बाद यह स्वाभाविक हो जाता है कि कवि उसी के चरित्र से अपने आदर्शों का भी संग्रह करे जो कि 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया' है और जो इस पृथ्वी पर इसलिए अवतीर्ण हुआ है कि जिसमें बनी रहे मर्यादा'। उसके जीवन चरित्र से प्राप्त आदर्शों मे जाति-भावना और देशभावना का प्रमुख स्थान रहना अवश्यंभावी है, क्योंकि राम का चरित आर्यसंस्कृति की पूर्ण मर्यादा का प्रतिनिधि है उनकी लीलाक्षेत्र यही आर्य-भूमि है। भारतवर्ष पर अत्याचार करने वाले लोगों की राम के समय में भी कमी नहीं थी और अब भी नहीं है। उस समय भी कितने ही लोगों के हृदयों मे कुप्रवृत्तियों ने अपना अड्डा अच्छी तरह जमा लिया था तथा कितने ही लोग अपनी असभ्यता में, अपने अनार्य आचरण मे अपने जीवन का सार्थक्य समझा करते थे। ये ही बुराइयाँ वर्तमान भारत में भी अपने बहुत ही ज्यादा अतिरंजित रूप में बद्धमूल हो चुकी हैं और बहुत सी होती जा रही हैं। अपनी सहज सहृदयता में कवि ने जिन अत्याचारों को खुली आँख से देखा उनसे उत्पन्न हुई वेदना रामचरित का संबल पाकर उद्गार बन गई और आशा से अनुप्राणित होकर उसने

उद्बोधन और अनुष्ठान का स्वरूप ग्रहण किया। गुप्तजी की जाति भावना, देश-भावना तथा मर्यादा-भावना का स्रोत देश की प्राचीन आर्य-संस्कृति ही है जिसके उद्दीपन के लिए इतिहास से उन्होंने सहायता ली है। आपस के अनैक्य के कारण "क्या पा लिया जय-चन्द ने निज देश का हित हार के" जिससे "हा! देखनी हमको पड़ी औरंगजेबी अन्त में।" इसका नतीजा यह हुआ कि "निज देश में ही हा विधे! परदेश हमको होगया।" इस दलित अवस्था को देख कर कवि पुराने दिनों की याद करता है और भविष्य के लिए विकल होता है—"हम कौन थे क्या होगये हैं और क्या होगे अभी।" 'कौन थे' के साथ 'क्या होगए, की समस्या का स्वाभाविक संबंध है और कवि पूछता है—

> हे देश होकर भी गृही, तू था न यों स्वार्थस्पृही।
> वह धर्म कीध्रुवता कहाँ तेरी बता।
> अवभूत चाहे भूत है, पर वह बड़ा ही पूत है।
> इतिहास देता है हमें उसका पता॥

'क्या थे' का आभास गुप्त जी के प्रबंधकाव्य हम को काफी दे देते हैं। 'क्या हो गए' के चित्र हमें कुछ बिखरे हुए मिलते हैं, परन्तु 'भारत-भारती में उनकी संख्या काफ़ी है। विषय-विभाग की दृष्टि से भारत-भारती के तीन खंड हैं—अतीत खंड, वर्तमान खंड और भविष्यत्-खंड। अतीत-खंड में भारत की प्राचीन गरिमा के बाद अवनति के आरंभ और उसके कारणों का उल्लेख किया गया है, वर्तमान-खंड मे भारत-वासियो की वर्तमान अवस्था तथा उनके चरित्र में रूढ़ हो गई बुराइयों का जिक्र है, तथा भविष्यत्-खंड में उद्बोधन है। अतीत को देख चुकने पर

तुलना द्वारा जब वर्तमान दुरवस्था पर दृष्टि पड़ती है, तो कवि की वाणी में स्वाभाविकतः ही जगह जगह व्यंग्य आ जाता है जिससे उसकी हृदय की सन्निविष्टता और आंतरिक ग्लानि का पता लगता है। हमारे गुणों का गुप्त जी ने इस तरह वर्णन किया है—

बस भाग्य ही की भावना में रह गया उद्योग है।
आजीविका है नौकरी में, इन्द्रियों में भोग है।
परतन्त्रता में अभयता, भय राज-दंड-विधान में।
व्यवसाय है बैरिस्टरी या डाक्टरी दूकान में॥
है चाटुकारी में चतुरता, कुशलता छल छद्म में,
पाडित्य पर-निंदा-विषय में, शूरता है सद्म में।
बस मौन में गंभीरता है, है बड़प्पन वेश में।
जो बात और कहीं नहीं वह है हमारे देश में।
कारीगरी है शेष अब साक्षी बनाने में यहाँ।
है सत्य या विश्वास केवल कसम खाने में यहाँ॥
है धैर्य तर्क-वितर्क में, अभियोग में ही तत्त्व है।
अवशिष्ट दारोगागरी में सत्व और महत्व है॥
है कर्म बस दासत्व में, अब स्वर्ण में ही शक्ति है।
बस वाद में है वाग्मिता, पर-अनुकरण में सभ्यता॥
स्वाधीनता निज धर्म-बंधन तोड़ देने में ही रही॥

अभावों के ऊपर दृष्टि डालने पर कवि देखता है कि "हैं भारतीय परन्तु हम बनते विदेशी सब कहीं' तथा "हम हैं मनुज पर हाय, अब मनुजत्व हममे है कहाँ", और अन्त में कातर होकर विलाप करता है—

भारत तुम्हारा आज यह कैसा भयंकर वेश है ?
है और सब निःशेष केवल नाम ही अब शेष है ॥
हा राम ! हा हा कृष्ण ! हा हा नाथ ! हा रक्षा करो ?
मनुजत्व दो हमको दयामय ! दुख दुर्बलता हरो ॥

उद्‌बोधन में ध्वनि अधिक आशापूर्ण हो जाती है तथा उमंग में उदारता दिखाई देती है—

जीते हुए भी मृतक सम रह कर न केवल दिन भरो ।
वर वीर बन कर आप अपनी विघ्न-बाधाएँ हरो ॥
है ज्ञात क्या तुमको नहीं, तुम लोग तीस करोड़ हो ॥
यदि ऐक्य हो तो फिर तुम्हारा कौन जग में जोड़ हो ॥
आओ मिलें सब देश-बान्धव हार बनकर देश के,
साधक बनें सब प्रेम से सुख शान्तिमय उद्देश के ।
क्या साम्प्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो ।
बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों की कहो ॥

दाशरथि राम के आदर्श से जो देशभाव और समाजभावना को पुष्टि मिलती है उसमें, हम देखते हैं, संकीर्णता का सर्वथा लोप है । संकीर्णता होने पर देशभावना का सच्चा रूप ही विकसित नहीं हो सकता । इसीलिए तीस करोड की गणना करके विविध सुमनों की माला के आशावाद में, सांप्रदायिकता और ऐक्य दोनों का सामंजस्य कराया गया है । "क्या सांप्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो" का अर्थ हमारी समझ में इस सामंजस्य के रूप में ही आता है, क्योंकि इसी में अधिक मानवीयता और स्वाभाविकता दीखती है । सांप्रदायिकता को निर्मूल करने के लिए कहना एक असम्भव कार्य के लिए कहना होगा । परन्तु सांप्रदायिकता का जो

उत्तर रूप है उस को क़ायम रखने में वास्तविकता और उदारता का दृष्टिकोण है। सब संप्रदाय रहें, मेल से रहें; एक साध्य के लिए एक दूसरे के साथ कंधे से कंधा भिड़ा कर रहें—उसमें क्या है ? संप्रदाय में रहता हुआ भी व्यक्ति मनुष्य बना रह सकता है। इसीलिए दयामय से मनुजत्व की भिक्षा माँगी गई और अन्यत्र भी कहा गया है कि—"मनुष्यत्व सब के ऊपर है मान्य महीमंडल के बीच।"

संभव है राम-भक्ति से बल-प्राप्त आर्यसंस्कृति के पक्षपात मे हमे कवि की सांप्रदायिकता दिखाई दे और इसीलिए हम यह कहने का आग्रह करें कि गुप्तजी ने वर्तमान अवस्थाओं के अनुकूल किसी नूतन आदर्श की उद्भावना नहीं की। इसमें सन्देह नहीं कि गुप्तजी आर्यसंस्कृति के उपासक हैं और उन्होंने अपनी इस उपासना को कहीं छिपाने की कोशिश नहीं की है। परन्तु हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि गुप्तजी कवि हैं और अपना व्यक्तित्व रखते हैं। वे देशभक्त हैं, यह उनके व्यक्तित्व का अतिरिक्त गुण है। पर, देशभक्त होने के अपराध से उन्हे एक ऐसा राष्ट्रनायक अथवा दिव्यद्रष्टा राजनीतिज्ञ भी होना चाहिए था जो वर्तमान भारतीय राजनीतिज्ञों के ऊपर कोई ऐसी नई बात जिसमे आदर्श की भी हानि न हो—यह कहने का हमें अधिकार ही क्या है ? और यदि वह कोई ऐसी बात कहता तो वह बात मान्य ही किस किस को होती ? हिन्दुओ के अतिरिक्त भारत मे और भी असंख्य संप्रदाय हैं। लेकिन हाँ, वह हिन्दुओ को असांप्रदायिक बनाने—गुप्तजी की उदार वृत्ति को देखते हुए जिस का अर्थ होगा, हिन्दुत्व की भावना को दूर कराने—की चेष्टा कर सकता था परन्तु क्या यह एक सांप्रदायिकता को दूर करके दूसरी सांप्रदायिकताओं की बलवृद्धि

कराने के बराबर नहीं होता। फिर, 'व्यक्तित्व' को नष्ट करने से राष्ट्रीयता का निर्वाह क्या सम्भव है ? राष्ट्रीयता मे स्वयं व्यक्तित्व की मूल प्रवृत्ति रहती है।

पर हमारी समझ में तो संप्रदायों को रखते हुए उनको एक ऐसी उदारता का संदेश देना जिसमें उनका अपने लिये तो अधिक है पर दूसरों के लिए विशेष नहीं—वह भी अब से तीस वर्ष पहले के युग में जब कि अखिल भारतीय जागृति कल्पना और प्रयोग की ही वस्तु थी—आदर्श की काफ़ी बड़ी नूतनता है एक ओर यह कह कर कि आखिर "अहले इसलाम-दल को हम बुलाकर ही रहे" जब कवि तीस करोड़ में इस दल की भी गणना करता है तो हम उसमें नेता के उपयुक्त एक ऐसे साहस को भी देखते हैं जिसकी शक्ति उसकी उदारता है। वह स्पष्ट भी कहता है—"हिंदू-मुसलमान दोनों अब छोड़ें वह विग्रह की नीति।" इसके अतिरिक्त यह देखते हुए कि आगे चलकर, असहयोगकाल में, महात्मा गांधी के उद्योग से कवि के सन्देश को व्यवहार का भी महत्त्व प्राप्त हुआ, कोई, यदि चाहे तो, गुप्तजी को भविष्य-दृष्टि का भी थोड़ा सा अंश दे सकता है।

जिस तरह गुप्तजी की जातिभावना में उदारता है उसी प्रकार देशभावना मे भी है। वे कहते हैं—"भरत खंड का द्वार विश्व के लिए खुला है।" पर राष्ट्रीयता के व्यक्तित्व को छोड़ बैठना उचित नहीं है। इसलिए "पर जो इस पर अनाचार करने आवेंगे, नरकों में भी ठौर न पाकर पछतावेंगे।" कहीं कहीं अपनी उदारता की सहज प्रचुरता मे गुप्तजी विश्वबन्धुत्व की ओर भी बढ़ जाते हैं—"संसार हेतु शत वार सहर्ष मरें हम" जिस के साथ आशा तथा

कर्तव्य की संलग्नता का भी पूरा योग है—"डूबेंगे नहीं कदापि, तरें न तरें हम।"

राष्ट्रीयता के दो स्वाभाविक पक्ष रहा करते हैं सामाजिक और राजनीतिक। सामाजिक पक्ष मे तो गुप्तजी का दृष्टिकोण हिंदूदृष्टिकोण है। हिंदू समाज की समस्याओं पर ही उन्होंने दृष्टिपात किया है; जो स्वाभाविक है। गुप्तजी स्वयं हिन्दू हैं हिन्दुओं की परिस्थितियों से ही वे विशेषरूप से परिचित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त भारत का कोई एक व्यापक राष्ट्रीय समाज है भी नही। परन्तु राजनैतिक पक्ष में हिन्दुत्व के आग्रह का कोई स्थान नहीं रहता, यदि राजनीतिकता का रूप देश-प्रेम है, तो देशभक्त गुप्तजी की अनेक रचनाओं में हम उनके हृदय का वर्तमान राजनैतिक समस्याओं तथा उपायो के साथ पूर्ण सामंजस्य पाते हैं। सामाजिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में उनके विचारों को हमे 'भारत-भारती' के संगमस्थल में देखना चाहिये। उनके राजनैतिक विचार उनके प्रबन्धकाव्यों में यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं। राज्य और राजा प्रजा के सम्बन्धों के बारे में गुप्त जी के क्या विचार हैं इसे हम नीचे के उद्धरणों मे देखेंगे—

(क) एक राज्य न हो, बहुत से हों जहाँ।
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ॥

(ख) स्वत्वों की भिक्षा कैसी।
दूर रहें इच्छा ऐसी॥

(ग) ………मुझ से कहो, राजा यहाँ का कौन है।
कुछ यत्न वह करता नहीं, कर्तव्य से डरता नहीं।

मरती प्रजा है और रहता मौन है ॥
यदि भीरु वह दुर्बलमना, तो व्यर्थ क्यों राजा बना ?
कर दे रहे हो तुम उसे किस बात का ?
राजा प्रजा के अर्थ है, यदि वह अपटु असमर्थ है;
कारण वही है तो स्वयं उत्पात का।
सबके सदृश उस भूप की, उस पाप के प्रतिरूप की।
बक के लिए बारी कभी पड़ती नहीं।
जूझे कि निज पद त्याग दे, सबके सदृश बलि भाग दे।
न्यायार्थ क्यों उससे प्रजा लड़ती नहीं ?
राजा प्रजा का पात्र है, वह लोक-प्रतिनिधिमात्र है।
यदि वह प्रजापालक नहीं तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुनें, जो सब तरह अपनी सुने।
कारण प्रजा का ही असल में राज्य है ॥
पर है यहाँ की जो प्रजा, जो है बनी बलि की अजा;
वह भीरु है, फिर ठीक ही यह कष्ट है।
डाले नहीं तो यदि अभी भर धूल मुट्ठी भर सभी।
तो धूल में मिल जाय बक सो स्पष्ट है।

राजा प्रजा के संबंधों तथा दोनों के संबंध में यह सार कथन गुप्तजी ने अपने 'बकसंहार, नामक प्रबन्ध-काव्य में किया है, जिसमें एकचक्रा नगरी में बकासुर द्वारा प्रजा के उत्पीड़न तथा उस असुर के भीम द्वारा मारे जाने का वर्णन है। बकासुर के अनाचारवर्णन में राजा के सम्बन्धों के लिए प्रसंग ढूँढ निकालना गुप्तजी के किसी उद्देश्य को सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त इस कथन से कि राज्य कोई करता है और अत्याचार करने वाला

कोई और है हम वर्तमान भारतीय राजनैतिक समस्या की किस वास्तविक परिस्थिति का आभास पाते हैं, यह भी ध्यान देने की बात है। साथ ही साथ पहले उदाहरण पर भी तुलनात्मक दृष्टि से गौर करना चाहिए। इसके अतिरिक्त हमें यह भी याद आती है कि 'मुट्ठी भर धूल डालने' की जैसी कुछ बात असहयोग आन्दोलन के समय में भी बहुत से नेताओं के मुख से कही जाती थी। इससे हम यदि चाहें तो इस बात का अनुमान कर सकते हैं। कवि कमसे कम साधारण-रूप मे असहयोग आन्दोलन से पूर्ण सहमत था।

असहयोग-आन्दोलन के बाद राजनैतिक क्रान्ति का दूसरा युग १९३०-३१ के सत्याग्रह-आन्दोलन में देखने को मिलता है। उस की भी ध्वनि कवि अपने राम काव्य 'साकेत' में देने का अवसर निकाल लेता है, यद्यपि वह कई अंश मे अप्रासंगिक ही है और १९३०-३१ के आन्दोलन की तुलना में बैठता नहीं। परन्तु उससे, इसी कारण से विशेष रूप से, कवि के उत्कट देशप्रेम तथा राजनीतिक आदर्शों का सन्देह-विमुक्त पूरा पूरा अनुमान हो जाता है। राम के वन जाते समय अयोध्या की सीमा पर, अयोध्या की प्रजा राम के पथ मे लेट जाती है और—

> "जाओ, यदि जा सको रौद हमको यहाँ,
> यों कह, पथ में लेट गये बहु जन वहाँ।

जिस पर रामचन्द्र उनसे कहते हैं—

> "उठो प्रजा जन, उठो, तजो यह मोह तुम।
> करते हो किस हेतु विनत विद्रोह तुम ?॥

गुप्तजी ने अपनी ईश्वर जाति, तथा राष्ट्र से संबंध रखने वाली

भावनाओं को अपने काव्य में प्रधान ढंग से स्थान देकर अपने तद्विषयक उद्देश्य को गुप्त नहीं रक्खा है। अतएव उनका उद्देश्य ही उनके काव्यकर्म की मुख्य प्रेरणा है। उनके इस कर्म का श्रीगणेश ही 'भारत-भारती' जैसी ओजस्विनी रचना से होता है। परन्तु इससे यह भ्रम नहीं होजाना चाहिए कि गुप्तजी प्रचारक और अध्यापक की भाँति कोड़ा-कपची लेकर अपने उद्देश्य और संदेश को हमारे सामने रखते हैं, जैसा कि कभी कभी कुछ लोगों का प्रयास रहा करता है। गुप्तजी ने समाज और राष्ट्र के टुकड़े करके दलबन्दी की प्रकृति कभी नहीं दिखाई और उनकी जातीय आलोचनाएँ भी व्यक्तिगत तथा हृदयवेधी न होकर सर्वसाधारण हैं।

इसका कारण यह है कि उद्देश्य रखते हुए भी वे सच्चे कवि हैं, उनके हृदय में उदारता, सहानुभूति, कोमलता, करुणा आदि के सहज कविगुण प्रचुरता के साथ मौजूद हैं। गुप्त जी स्वयं 'कला के लिए कला' को नहीं मानते। कला के संबंध में उन्होंने अपनी धारणा का कहीं-कहीं परोक्ष ढंग से उल्लेख कर दिया है, जैसे—"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला" अथवा "मानते हैं जो कला के अर्थ ही स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।" अथवा फिर बिलकुल स्पष्ट शब्दों में—

> केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
> उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥

तथापि लोग केवल कला के लिए ही कला की रचना के उपासक हैं वे यदि थोड़ी देर को गुप्त जी की कुछ रचनाओं (पंचवटी साकेत आदि) में आए हुए जातीय—राष्ट्रीय—संकेतों की ओर से अपनी आँखें बंद कर सकें तो वे उनमें वास्तविक कलात्मक काव्य

'कला के लिए कला'—का भी दर्शन कर सकते हैं। जहाँ उद्देश्य और कला समान भूमि पर मिलकर एक हो जाते हैं वहीं तो काव्य का उच्च गौरव प्रतिष्ठित होता है।

जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में मानवी वृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण ही काव्य है। किसी परिस्थिति से स्वयं द्रवित होना और दूसरों को द्रवित करना इस प्रत्यक्षीकरण का रूप है। राम—जाति—राष्ट्र के केन्द्र से निर्झरित होती हुई भावात्मक गुप्तजी के हृदय में जिस विशालता को भर देती हैं वही विशालता गुप्तजी को जीवन के नाना रूपों की मार्मिकता को परखने की सामर्थ्य प्रदान करती है—कहीं कम और कहीं अधिक। स्फुट पद्यों की अपेक्षा प्रबन्ध मे जीवन की विविधता को देखने का अवसर अधिक मिलता है। यहाँ वह एक साथ देखने को मिलती है और प्रसंग उसकी सहायक होता है। अतः स्फुटों की अपेक्षा गुप्त जी की प्रबंधरचनाओं में भावुकता के अवसर भी अधिक दिखाई देंगे। यह सम्मति अपेक्षा को दृष्टिगत रखते हुए है, अन्यथा उनके स्फुट पद्य भी नीरस नहीं कहे जा सकते और उनमें से कोई कोई तो भावुकता के बड़े अच्छे उदाहरण हैं। जैसे—

(क) तेरी स्मृति के आघातों से, छाती छिलती रहे सदा।
चाहे तू न मिले पर तेरी आहट मिलती रहे सदा॥

(ख) दो आँखें थीं किन्तु एक मन, उसमें यही बुद्धि जागी।
मन ही एक और ले लूँ तो, दो होंगे सुख-दुख-भागी॥
सुनकर विक्रेता मुसकाया। हाँ, मैं हाट देख आया॥
निज जीवन का एक रत्न हँस, मैंने भी रख दिया वहाँ।
वह बोला "पागल पत्थर से, मन का विनमय हुआ कहाँ?"
मत छूना तुम उसकी छाया। हाँ, मैं•

(ग) पुलकित पराग रंजित समीर, हो रहा तरंगित तरल नीर,
उड़ता है अंबर में अबीर, है नया प्रकृति का चारु चीर।
मेरे उर में भी उमंग, तेरे कर में है कौन रङ्ग ॥
तेरे छींटों से आज मित्र; यह मेरा पल्ला हो पवित्र।
ये धब्बे है या सुमन चित्र, मैं मनन करूँ जिनके चरित्र ?
समझूँ कुछ तेरे रङ्ग ढंग ॥ तेरे कर में है०

(घ) उन्हें स्वप्न में देख गत को प्रात काल चली मैं।
और खोजती हुई उन्हीं को, घूमी गली गली मैं।
कितनी धूल छान डाली। मैं यों ही भटकी हे आली ॥
साहस करके चली गई मैं, किन्तु कहाँ तक जाती।
पैर थके सूझा न पंथ भी, धड़क उठी यह छाती।
थी बयार या व्याली ॥ मैं यों ही०
आँख मूँद कर चिल्लाई तब, "कहाँ छिपे हो बोलो।"
करस्पर्शयुत सुना उसी क्षण, "तुम आँखें भी खोलो।
ओ मेरी मतवाली ॥" मैं यों ही०

प्रबन्ध-रचना की भावुकता का बहुत कुछ उत्तरदायित्व प्रसंग के ऊपर रहा करता है। प्रसंग-गर्भत्व तो स्फुट पद्यों में भी रहता है परन्तु प्रबन्ध के धारावाह और तत्संबंधी भावपरंपरा मे भावोत्कर्ष का एक क्रम सा रहता है जो किसी विशेष स्थल पर पहुँच कर मार्मिकता और प्रभाव का पुंजीभूत चरमतथ्य बन जाता है। परिस्थितियाँ और चरित्र प्रसंगोत्थान के ताने बाने हैं जिस पर प्रबन्ध की विशदता और चारुता निर्भर रहती है। चरित्र मे कार्य और वार्तालाप का उत्तरदायित्व रहता है। परिस्थितियाँ कहीं तो पात्र के कार्यादिक से व्यंजित की जाती हैं और कहीं कवि अपनी

वर्णनचातुरी से उन्हे प्रभावपूर्ण रूप में उपस्थित करता है।

गुप्तजी के सब प्रबन्धकाव्य समान महत्त्व के नहीं हैं। 'साकेत' महाकाव्य को छोड़ कर उनके शेष प्रबन्धकाव्य खंडकाव्य हैं, जिनमे से कितने ही (विकटभट, जयद्रथवध, रंग में भंग, गुरुकुल आदि) उत्साह-भाव से प्रेरित ओजमयी कृतियाँ हैं। इस प्रकार की कविताएँ ओजसंपादन करके सर्वसाधारण के हृदयों को कौतूहल और विस्मय की पद्धति के द्वारा, अभिभूत करने मे अवश्य समर्थ होती हैं और इस प्रकार, आनन्दप्रदायिनी भी होती हैं, परन्तु उनमे विविध परिस्थितियो का अभाव रहने से मुख्य चरित्र की सैद्धान्तिक एकरसता में—दूसरे शब्दों में, संचारियो आदि के अभाव मे—उत्थान-पतन के वे दृश्य उपस्थित नहीं होते जो भाव को पूर्ण रस बनाने मे समर्थ होते हैं। पर यह कहते समय हमें इतना अवश्य याद रखना चाहिए कि उनमे कवि का दृष्टिकोण शायद कवित्व की अपेक्षा उद्देश्य के प्रति अधिक ममत्व रखता है। तथापि ऐसे काव्यो में भी संचारियो के लिए यदि कही परिस्थितियाँ आ जाती हैं तो भावुकता का उन्मेष अच्छा बन पड़ता है। इस प्रकार के स्थल 'बकसंहार' मे अनेक आए हैं जहाँ वीरप्रसू कुन्ती बक से भिड़ने के लिए अपने पुत्र को भेजती हुई अपने मातृहृदय के अन्तर्द्वन्द्व का भी परिचय देती है, यथा—

फिर हो गई गंभीर वह, जिसमें कि हो न अधीर वह।
माना न किन्तु तथापि मा का अश्रुजल।
दो बूँद बह कर ही रहा.........।

अथवा—यों प्रश्नपूर्वक निज कथा, निःशेष कर मानो वृथा,
कुन्ती बिना उत्तर लिए निर्गत हुई।

ठहरी न वह, न ठहर सकी, अति कार्य कर मानों थकी,
बाहर अटल थी किन्तु भीतर हत हुई ॥

इस प्रकार के प्रसंगों को उपस्थित करने से उद्देश्य की कोई हानि नहीं होती है, बल्कि उसका कुछ उपकार ही होता है—मनोवेगों की तीव्रता द्वारा उसकी सिद्धि अधिक प्रभावोत्पादक हो जाती है। इसी प्रकार 'जयद्रथवध' में अर्जुन की जयद्रथवध की प्रतिज्ञा के बाद जब कृष्ण ने उससे पूछा कि 'तुमने प्रण तो बड़ा दुष्कर किया है, पर अब उसके लिए यत्न क्या सोचा है?' तो

.........धनंजय ने कहा,

"निश्चय मरेगा कल जयद्रथ, प्राप्त होगी जय मुझे।
हे देव; मेरे यत्न तुम हो, मत दिखाओ भय मुझे।"
कहते हुए यों पार्थ के दो बूँद आँसू गिर पड़े।
मानो हुए दो सीपियों से व्यक्त दो मोती बड़े।
फिर मौन होकर निज शिविर में वे तुरन्त चले गए।
छलने चले थे भक्त को भगवान् आप छले गए॥

इस स्थल में दिए गए ये मनश्चित्र आगे चलकर अर्जुन के प्रतिज्ञात कर्म को अधिक प्रभावशाली बनाते हैं और प्रबन्ध की दृष्टि से, वे प्रणनिर्वाह के समय भगवान के कौतुक की एक भूमिका तैयार करके उसमें अधिक स्वाभाविकता भी ला देते हैं।

गुप्तजी के छोटे काव्यों में हमको 'पंचवटी' बहुत अच्छा मालूम होता है। इसके प्रारंभिक एक तिहाई अंश में शांत की मन्दगति स्रोतस्विनी बहती है जिसमें प्रहरी लक्ष्मण का मनःप्रवाह छोटी-छोटी तरंगो के रूप में सहयोग देता है और पाठक के मन को भी अपने साथ साथ हलके हलके तैराता है। उसके बाद शूर्पणखा के

आ जाने से थोड़ी देर तक विनोदपूर्ण वार्तालाप चलता है और फिर, जब राक्षसी निराश होकर अपनी प्रकृति का दर्शन कराती है तो, अद्भुत, भयानक और बीभत्स के साथ, संक्षेप में, काव्य का कार्य संपन्न हो जाता है। गुप्तजी के रामचरित में लक्ष्मण जिस महान् उद्देश्य के प्रतिनिधि हैं उसकी प्रतिष्ठा में उनकी एकान्त की भावधारा, रात्रि की शांति, तथा वार्तालाप की विनोदशीलता बड़ी सफलतापूर्वक सहायक होती है। इसके अतिरिक्त इसकी भाषा और वर्णनशैली भी इतनी मधुर तथा प्रसादयुक्त है कि उसमें वर्णन तथा वर्ण्य का भेद ही नहीं मालूम होता, भाषा तथा भाव एक हो जाते हैं। विचारों की उदारता, चित्रों की प्रत्यक्षता, मानव-जीवन के साथ प्रकृति की प्रतिसंवादिता, शवलता में समंजसता आदि इसके कुछ ऐसे गुण हैं जो इसे गुप्त जी के काव्यकर्म का एक अति प्रकाशमान् कीर्तिस्तंभ बना देते हैं। शुरू शुरू मे लक्ष्मण का परिचय ही एक बड़े कौतूहलपूर्ण ढंग से आरंभ किया गया है—

पंचवटी की छाया में है सुन्दर पर्णकुटीर बना।
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर वीर निर्भीकमना॥
जाग रहा यह कौन धनुर्धर, जब कि भुवन भर सोता है;
भोगी कुसुमायुध योगी सा बना दृष्टिगत होता है॥

शान्त, ज्योत्स्नाचर्चित, शुभ्र रात्रि मे लक्ष्मण अकेले कुटी पर पहरा दे रहे हैं। कुटी के भीतर राम और सीता सोये हैं। रात्रि के उस वातावरण में लक्ष्मण के मन में तरह तरह की तरंगें उठने लगीं। कभी पुरानी बातों की याद आती है, कभी वर्तमान जीवन के सौख्य में संतोष होता है, कभी सामने के प्राकृतिक सौंदर्य से मुग्धता होती है, कभी तत्त्वनिरूपण होता है, आदि; क्योंकि 'कोई

पास न रहने पर भी जनमन मौन नहीं रहता। आप आपकी सुनता है वह, आप आपसे है कहता" पंचवटी के जीवन में लक्ष्मण के सुख की अनेक सामग्रियाँ हैं एक यह भी है—

आ आकर विचित्र पशुपक्षी यहाँ बिताते दोपहरी।
भाभी भोजन देतीं उनको पंचवटी छाया गहरी।
चारु चपल बालक ज्यों मिल कर, मा को घेर खिजाते है,
खेल-खिजा कर भी आर्या को वे सब यहाँ रिझाते हैं।

इतना सोचते ही सोचते सामने गोदावरी पर दृष्टि जा पड़ती है। उस गोदावरी का बहना भी मानों उन तीनों के पंचवटी-जीवन का उत्सव है। गोदावरी शायद जानती है कि रामचन्द्र राजा हैं। वह अपने परिचर्या-भाग को समझ कर राजदरबार की महफ़िल उपस्थित करती है—

गोदावरी नदी का तट वह ताल दे रहा है अब भी।
चंचल जल कलकल कर मानों तान ले रहा है अब भी।
नाच रहे है अब भी पत्ते मन से सुमन महकते है।
चन्द्र और नक्षत्र ललककर लालच भरे लहकते हैं।

इसी तरह सोचते सोचते और देखते देखते दिन निकलनेवाला हो गया। जरा सी रात्रि शेष थी कि शूर्पणखा एक अति मनोहर रमणीरूप धारण करके लक्ष्मण के सामने आती है और प्रेम-याचना करती है। अभी इन दोनों का तर्क चलता ही है कि ऊषागमन होगया और सीता कुटी के द्वार पर प्रकट हुई। सीता और लक्ष्मण का उज्ज्वल विनोद चल ही रहा था कि राम भी उपस्थित हुए। लक्ष्मण शूर्पणखा की भेंट के प्रथम क्षण से लेकर शूर्पणखा की भर्त्स्ना तक सारा ही वार्तालाप पढने की चीज़ है।

उसकी विदग्धता, तर्कपद्धति, छन्दवृत्ति तथा शूर्पणखा की मानसिक असमंजसता का आस्वाद एक दो उदाहरणों से यथावत् नहीं हो सकता।

लक्ष्मण की अंतिम चेतावनी सुनकर तो "झंकृत हुई विषम तारों की तंत्री सी स्वतन्त्र नारी।" और फिर अद्‌भुत और भयानक का एक साथ मेल देखने में आया—

गोल कपोल पलट कर सहसा बने भिड़ों के छत्तों से,
हिलने लगे उष्ण साँसों से ओंठ लपालप लत्तों से,
कुंदकली से दाँत हो गये बढ़ बराह की डाढ़ों से।

× × × ×

जहाँ लाल साड़ी थी तनु में बना चर्म का चीर वहाँ।
हुए अस्थियों के आभूषण थे मणि-मुक्ता-हीर जहाँ।
कंधों पर के बड़े बाल वे बने अहो! आँतों के जाल।
फूलों की वह वरमाला भी हुई मुंडमाला सुविशाल॥

तदनंतर प्रभु का इशारा पाकर लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट लिए, प्राण नहीं लिए। तब—

और कुरूपा होकर तब वह रुधिर बहाती, बिललाती,
धूल उड़ाती आँधी ऐसी भगी वहाँ से चिल्लाती।

साकेत गुप्त जी का महाकाव्य है और उसका "प्रकाशन वास्तव में हिन्दी-साहित्य की महत्त्वपूर्ण घटना है।" महाकाव्य के रूप में साकेत के अवतीर्ण होने का अर्थ हिन्दी-साहित्य के एक नवीन आवर्तन से है जो जहाँ, एक ओर, इस ग्रन्थ के कारण एक अभिनव गौरव का भाजन बना है वहीं दूसरी ओर रामचरित के संबन्ध में एक नए दृष्टिकोण को आश्रय देकर विचारों के

विकास का भी मार्ग खोलता है। तुलसीदास जी के 'रामचरित-मानस' द्वारा रामकथा को लेकर जो एक धारणा पद्धति हिन्दू-समाज में बनी हुई थी उसका निराकरण न करता हुआ भी 'साकेत' उसको एक भिन्न प्रकाश में देखता है। राम गुप्तजी के भी नायक हैं, 'साकेत' के भी नायक हैं, परन्तु प्रकट होते हैं वे लक्ष्मण के व्यक्तित्व में। लोकेश के चिद्रूप का जो स्फुरण है वही लक्ष्मण हैं और सद्रूप में चित् का निरीक्षण करने वाले राम वास्तव में एक द्रष्टा हैं। चित् से जो स्फुरण अथवा प्रसारण होता है उसमें क्रियाशीलता देखी जाती है। अतः 'साकेत' में क्रियाशीलता का विशेष उत्तरदायित्व लक्ष्मण को ही प्राप्त है, जिससे यह भ्रम हो जाना अस्वाभाविक नहीं है कि कदाचित् 'साकेत' के नायक लक्ष्मण ही हैं। 'साकेत' की दूसरी विशेषता इस बात मे है कि राम अवतार होकर भी हम लोगों के बीच में कुछ मनुष्य ही जैसे अधिक दीखते हैं, क्योंकि उन्होंने इस भूतल को अपना लिया है। उन्होंने कहा है— "सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया, इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।" परन्तु 'साकेत' की आध्यात्मिक व्याख्या का यहाँ अवकाश नहीं है। केवल हमें यही देखना है कि महाकाव्य की दृष्टि से किन किन तत्त्वों ने, मोटे रूप से, इसमें कैसा विकास हासिल किया है—

प्रबन्धकाव्य के साधनभूत जो जो अंग हैं वे महाकाव्य में अपने पूर्ण साफल्य को प्राप्त होते हैं। कवि के पास कार्य-क्षेत्र की इतनी विशालता रहती है कि अपने जिन हाथ-पैरों को वह अन्य तंग स्थानों में सिकोड कर रखता है या बहुत ही संकुचित रूप से प्रसारित करता है उन्हें यहाँ वह उन्मुक्त कर सकता

है। उसकी दृष्टि भी ज़्यादा दूर तक जाती है और वह खुलासा तौर पर साँस भी लेता है। महाकाव्य का महाकाव्यत्व इसी में है कि एक प्रधान भाव के आधीन रख कर कवि दूसरे जितने भी भावों को, जितनी भी परिस्थितियों मे देख सकता है उतनों को देखने की वह चेष्टा करता है। महाकाव्य का आनन्द सर्वांग-पूर्ण होता है और साथ ही अनुभूति की पूर्णता से भी युक्त होता है। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रख कर प्राचीन आचार्यों ने महा-काव्य के बड़े व्यापक लक्षण बताए हैं। वर्तमान समय मे, उनका उपयोग जीवन की व्यापकता के सन्देशमात्र के रूप मे ही किया जा सकता है—यह आवश्यक नहीं कि उन लक्षणों में परिगिणित प्रत्येक तथ्य का भी अनुसरण किया ही जाय। प्राचीनकाल में जीवन क्षेत्र का जो विस्तार था अब शायद वह उससे अधिक है और कवि को इस बात के निर्णय की स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह उस विस्तार के किन आवश्यक अंगों का उपयोग करके उसकी व्यंजना हमारे सामने उपस्थित करता है।

आजकल की बोली मे, जो वास्तव मे पुरानी बोली से ज़्यादा भिन्न नहीं है, काव्य मे जीवन के विस्तार को दिखाने के साधन परिस्थितियों की बहुरूपता और तत्सम्बन्धी मनोविज्ञान हैं। पुरानी बोली में हम इन्हीं को आलंबन विभाव, संचारी तथा तथा अनुभाव कहते हैं। परन्तु इसके सम्बन्ध मे एक बात ध्यान में रखने की है कि इन सब साधनो का सार्थक्य पात्र के उद्देश्य और उसकी अनुरूपता से ही होता है। केशवदास अपने पात्रों को भूल जाते हैं इसलिए उनके काव्य की परिस्थितियाँ वस्तुतः उनके प्रबन्ध-काव्य का अंग नहीं रह जातीं। वर्तमान समय की

परिभाषा में जिसे चरित्र-चित्रण और अन्तर्द्वन्द्व कहा जाता है वह आलम्बनमूल इन्हीं भावानुभावों के समाहार का अधिक व्यापक अभिधान है। एकोद्दिष्टता, अर्थात् स्थायी भाव के नैरन्तर्य की दृष्टि से कथा सम्बन्ध का निर्वाह भी चरित्र-चित्रण के सुन्दर रूप के लिए आवश्यक हो जाता है।

चरित्रचित्रण के दो श्रेष्ठ साधन हैं—क्रिया-व्यापार और पात्रो की उक्तियाँ। इन्हीं दोनों से संचारियों के मार्ग द्वारा स्थायी की पुष्टि होती है।

गुप्तजी के कथा-सम्बन्ध अथवा प्रबन्ध-निर्वाह के बारे में हम यह कह सकते हैं कि वह उनके महाकाव्य मे (तथा खंड-काव्यो में भी) साधारणतया ठीक हैं तथा उसमें अग्रसरता की सामर्थ्य है। परन्तु यह अग्रसरता प्रायः घटनाओं की शक्ति से होती है, चरित्र की शक्ति से उतनी नहीं। चरित्रचित्रण की दृष्टि से गुप्तजी के पात्र उनके महाकाव्य में (कहीं-कहीं खंड काव्यों में भी), अनेक संचारियो का प्रदर्शन करते हुए भी, अपरिवर्तनशील हैं। वे एक स्पष्ट उद्देश्य, आदर्श, सिद्धान्त का पालन मात्र हैं। परन्तु महाकाव्यान्तर्गत सात्विको और संचारियों में यह खूबी है कि वे उन पात्रों की अविकसनशील दशा का भान नहीं होने देते और अपनी-अपनी बारी पर पाठक को अपने मे सरावोर कर लेते हैं। पात्रो के चरित्र तथ्य के उद्घाटन में उनके संचारियों ने पूर्ण सहानुभूति और सहृदयता के साथ काम किया है। चित्र के प्रसंग को लेकर उर्मिला और लक्ष्मण के बीच जो उत्सुकता-पूर्ण हास-विलास दिखाया गया है वह बडा ही हृदयोल्लासी है। वह कथोपकथन के रूप में है और

इसमें प्रयुक्त वाग्वैदग्ध्य सहज वृत्ति की दृष्टि से तो सात्विकों और प्रसंग के तकाज़े से संचारियों का बड़ा मुग्धकर चित्र बन जाता है। परिस्थिति-वर्णन में, वन-गमन की तैयारी के समय, सीता, उर्मिला, लक्ष्मण, सुमित्रा और 'सब' के संचारियों की व्यंजना तथा अनुभावों का प्रदर्शन कवि ने बहुत थोड़े से शब्दों में परन्तु भरपूर प्रभाव के साथ, किस खूबसूरती से किया है सो नीचे की पंक्तियों में देखने लायक है—

सीता और न बोल सकी, गद्‌गद कंठ न खोल सकी।
इधर उर्मिला मुग्ध निरी कह कर 'हाय' धड़ाम गिरी॥
लक्ष्मण ने दृग मूँद लिये, सबने दो दो बूँद दिये।
कहा सुमित्रा ने 'बेटी, आज मही पर तू लेटी।'

पशुओं तक की दशा के वर्णन में हम कवि के इस कौशल को देख सकते हैं। सुमन्त्र जब राम, लक्ष्मण और सीता को बन में छोड़ कर आए हैं तो उनके घोड़ों की दशा का गुप्तजी ने इस प्रकार वर्णन किया है—

जो थे समीर के जोड़ों के, उठते न पैर थे घोड़ों के।
जो भीषण रण में भी न हटे मानो अब उनके पैर कटे।
अति भार हुआ रीता रथ था, गृह पथ मानो अरण्य-पथ था॥

पर, अनुभावादिकों की अपेक्षा गुप्तजी को सात्विकों की क्रीड़ा दिखाने के अधिक अवसर मिले हैं। इसका कारण शायद पात्रों की अपरिवर्तनशीलता ही है। गुप्तजी नियत जीवन की साधारण चर्या में ही पद-पद पर ऐसे स्थल ढूँढ लेते हैं जहाँ भावुकता एक इशारे में सामने आकर खड़ी हो जाती है। 'पंच-वटी' में लक्ष्मण का जो 'आप आपसे' कहना-सुनना है वह

इसका मनोहर उदाहरण है। 'साकेत' में राम, लक्ष्मण और सीता गंगा पार करने के बाद, और तदुपरान्त यमुना-स्नान करने के बाद, जब आगे बढ़ते हैं तो उनके वनावलोकन में वाणी और चेष्टा के जो सात्विक भाव प्रदर्शित होते हैं उनमें जबरदस्त आकर्षण है। क्योंकि उनका वनावलोकन, परिस्थिति को एक किनारे रख कर, हृदय की सहज सहानुभूति और उदारता से प्रेरित है। सीता कहती है—"वन में सौ सौ भरे पड़े रस के घड़े।" पर वस्तुतः ये "सौ-सौ घड़े" वन के नहीं उन्हीं की वृत्तियों के हैं, अपने प्रथम सोपान में गुप्तजी के हृदय के हैं। राम और राष्ट्र से जो भावुकता का भंडार गुप्तजी को मिला है वह उन्हें सर्वत्र ही उद्गारों को प्रकट करने के लिए सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ दे देता है।

गुप्तजी की इस सफलता का भावुकता के अतिरिक्त उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि को भी श्रेय मिलता है। हम गुप्तजी को व्यावहारिक मनोविज्ञान का शास्त्री कह सकते हैं। यद्यपि विकासहीन पात्रों में चरित्र-चित्रण की गुंजाइश कम, या नहीं, होती है तथापि उपपरिस्थितियाँ पैदा करके उनसे भावशबलता उत्पन्न करना चरित्राध्ययन और सूक्ष्मनिरीक्षण की ही प्रवृत्ति का द्योतक है। दशरथ जब कैकेयी को क्रोध में पड़ी देखते हैं उस समय का वर्णन नीचे दिया जाता है—

पड़ी थी बिजली-सी विकराल, लपेटे थे घन-जैसे बाल।
कौन छेड़े ये काले साँप, अवनिपति उठे अचानक काँप।
किन्तु क्या करते, धीरज धार, बैठ पृथ्वी पर पहली बार।
.... बोले भूपाल॥

इसमे सन्देह नहीं कि दशरथ उस समय पहली ही बार पृथ्वी पर बैठे होंगे, परन्तु कथा-सम्बन्ध की दृष्टि से यह बात साधारण सी ही कही जायेगी जिसका उल्लेख न भी होने से कोई हानि नहीं थी। तथापि कवि स्थिति-चित्रण, राजा के मनोभाव तथा उनका पृथ्वी पर बैठना, इन सब बातों की आनुक्रमिक परंपरा उपस्थित कर, दो शब्द—"पहली बार"—को अति भाववाही बना देता है। मानसिक विप्लव के सूक्ष्म निरीक्षण का एक उदाहरण उस समय भी देखा जा सकता है जबकि लक्ष्मण कैकेयी के वरों की बात जानकर और उस पर क्रोध कर चुकने पर अपने पिता की ओर ध्यान देते हैं। पर वे केवल कहते हैं—"पिता हैं वे हमारे या— कहूँ क्या, !" इस "कहूँ क्या" मे क्रोध और ग्लानि के साथ साथ मर्यादा का अवशेष भी कैसा मिला हुआ है सो देखना चाहिए। नहीं तो जो लक्ष्मण अभी अभी कैकैयी से तरह तरह के अकथनीय वचन कह चुके हैं वे अपने पिता के लिए भी कह सकते थे—"पिता हैं वे हमारे या कि अरि हैं" या ऐसा ही कुछ और।

विकास तथा अन्तर्द्वन्द्व की दृष्टि से 'साकेत' में कैकेयी का चरित्र श्रेष्ठ है, इसलिए कि यह किसी आदर्श की प्रतिमा नहीं है। विशेष रूप से उसका वह अन्तर्द्वन्द्व जो मंथरा के चिनगारी छोड़ जाने के बाद चलता है हमारे हिंदी साहित्य में एक बहुत बड़े गौरव की वस्तु है। इस द्वन्द्व के वस्तुत्व और क्रमिक उत्थान की टेक आती है मंथरा के इन शब्दों पर—"भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उन्हें जो गेह" जो कैकेयी की शुद्ध भावनाओं अथवा समाधानों के बीच में बार बार गूज उठते हैं और अन्त में उसे इस निश्चय पर पहुँचाते हैं—"नहीं है कैकेयी

निर्बोध, पुत्र का भूले जो प्रतिशोध।

चरित्रचित्रण का एक अति सुष्ठु साधन पात्रों का कथोपकथन भी होता है। गुप्तजी इसमें भी बड़े पटु हैं। इनकी कथोपकथन कराने की अद्भुत प्रतिभा तो महाकाव्य में ही नहीं, खंडकाव्यों तक में देखी जाती है। 'पंचवटी' के कथोपकथनों का ज़िक्र किया जा चुका है। दूसरे खंडकाव्यों में भी कम-वेश यह बात मौजूद है। 'साकेत' से एक उदाहरण देते हैं। सुबह होने पर उर्मिला-लक्ष्मण के मिलन का प्रसंग है—

उर्मिला बोली "अजी तुम जग गए। स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गए?"
"मोहिनी ने मन्त्र पढ़ जब से छुआ, जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ।"
"जागरण है स्वप्न से अच्छा कहीं", "प्रेम में कुछ भी बुरा होता नहीं।"
"प्रेम की यह रुचि विचित्र सराहिए, योग्यता क्या कुछ न होनी चाहिए?"
" ..प्यारी तुम्हारी योग्यता ...के पात्र हूं। किन्तु मैं भी तुम्हारा दास हूँ।"
"दास बनने का बहाना किस लिए, क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए?
देव होकर तुम सदा मेरे रहो, और देवी ही मुझे रक्खो अहो।"
"तुम रहो मेरी हृदयदेवी सदा, मैं तुम्हारा हूँ प्रणयसेवी सदा।
. .किन्तु मेरी कामना छोटी बड़ी, है तुम्हारे पादपद्मों में पड़ी।"
" . अवश अबला हूँ न मैं, कुछ भी करो, किन्तु पैर नहीं, शिरोरुह तब धरो।"
"साँप पकड़ाओ न मुझको निर्दये, देख कर ही विष चढ़े जिनको अये।
अमृत भी पल्लवपुटों में है भरा, विरस मन को भी बना दे जो हरा।"
"...तदपि तुम यह और क्या पढ़ने चला? चट अरे, क्या चाहिए तुमको भला?"
"जनकपुर की राजकुंज विहारिका, एक सुकुमारी सलोनी सारिका।"
देख निज शिक्षा सफल लक्ष्मण हँसे, उर्मिला के नेत्र खंजन से फँसे।
"तोड़ना होगा धनुष इसके लिए"। "तोड़ डाला है उसे प्रभु ने प्रिये।

सुतनु, टूटे का भला क्या तोड़ना। कीर का है काम दाड़िम फोड़ना। होड़ दाँतों की तुम्हारे जो करे, जन्म मिथिला या अयोध्या में धरे।"
"...और भी तुमने किया है कुछ कभी, या कि सुग्गे ही पढ़ाए हैं अभी?"
"बस तुम्हें पाकर, अभी सीखा यही।"

इस उदाहरण से प्रतीत होगा कि कथोपकथन की समीचीनता के लिए वाग्वैदग्ध्य, वक्रोक्ति, छन्दवृत्ति, तर्कशैली तथा कथन की लघुता एवं सांकेतिकता का कवि ने कितना सुन्दर उपयोग किया है। ये सभी तत्त्व थोड़ी बहुत मात्रा में गुप्तजी के खंडकाव्यों के कथोपकथनों में भी देखे जाते हैं। जीवन की व्यापकता के सम्बन्ध से 'साकेत' में बहुत सी अवस्थाओं के चित्र या प्रसंग आए हैं जो अपने अपने स्थान पर पात्रों तथा परिस्थितियों के औचित्य के कारण प्रभावोत्पादक हुए हैं। प्राकृतिकचित्रण तथा मानवीय चित्रण भी गुप्तजी ने अच्छे किए हैं जिन के उदाहरण अब तक दिए गए उदाहरणों में ही मिल जायेंगे।

इनके अलंकार-प्रयोगों के बारे में यह कहना है कि वे भावों के सहयोगी हैं। उनमें कृत्रिमता और प्रयास दिखाई नहीं देते। कहीं कहीं जो कल्पना की नूतनता भी बड़ी चमत्कारी है, जैसे नीचे के पहले उदाहरण में—

(क) चले फिर रघुवर मा से मिलने, बढ़ाया घन सा प्राणानिल ने।
चले पीछे लक्ष्मण भी ऐसे, भाद्र के पीछे आश्विन जैसे।

(ख) पृथ्वी को मन्दाकिनी लेने लगी हिलोर।
स्वर्गंगा उसमें उतर डूबी अंबर बोर॥

(ग) यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी,
स्वर्गकंठ से छूट धरा पर गिर पड़ी।

सह न सकी भव ताप अचानक गल गई,
हिम होकर भी द्रवित रही कल जलमयी ।। (गंगा पयान)

गुप्त जी की भाषा विशुद्ध खड़ी बोली है यद्यपि कहीं कहीं, बहुत कम, ऐसे शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है जो खड़ी बोली में व्यवहृत नहीं होते, जैसे 'हूजो,' 'अँखियों' आदि शब्द-संबंधी स्वतंत्रता और भी एक-दो रूपों में देखने में आती है जैसे संज्ञा की क्रिया बना लेना ('प्रमाणी') या छंद की आवश्यकता के लिए कहीं मात्रा कम कर देना ('मुरझ गया') या विशेषण मे लिंग वचन का चिह्न लगा देना ('भरिताएँ') परन्तु इस तरह की स्वतन्त्रताओं का भी बहुत ही कम उपयोग किया गया है। भाषा में प्रसाद है। 'पंचवटी' में तो प्रसाद जैसे मूर्तिमान ही हो गया हो। बहुत कम स्थानों पर संस्कृत के ढँग की समस्त पदावली भी देखने को मिलती हैं। संस्कृत के ही ढँग से, गुप्तजी की कुछ कुछ प्रवृत्ति संयुक्ताक्षरों के पहले वर्ण को दीर्घवत् पढ़ने की सी भी मालूम होती है। भाषा में कहीं कहीं भावों के अनुसार ध्वनि उत्पन्न करने की रुचि भी दृष्टिगत होती है, यथा "झाक न झंझा के झोंके में झुक कर खुले झरोखे से।"

गुप्तजी के काव्य और उसकी प्रेरक मूल शक्तियों के इतने दिग्दर्शन से यही निष्कर्ष निकलता है, जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है, कि उनकी ईश्वर, जाति तथा तथा राष्ट्र से संबंध रखने वाली भावनाओं तथा उनकी कविताओं का घनिष्ट पारस्परिक संबंध है। वे एक दूसरी से अलग, स्वतंत्र, नहीं है बल्कि प्रत्येक एक दूसरी को बल प्रदान करने वाली है। इसीलिए गुप्तजी मे हम न तो, एक ओर, उनके ईश्वर की किसी संकीर्णता

को ही देखते हैं और न, दूसरी ओर किसी एकदम लोक-मर्यादा विरुद्ध नवीन अथवा क्रान्तिकारी मार्ग की उनकी अनुसंधान-चेष्टा को ही। प्रत्येक बात की मर्यादा पर दृष्टि रखते हुए गुप्तजी ने उसका वर्तमान परिस्थितियों से सामंजस्य अवश्य स्थापित किया है और देश की वेदना को, उसकी पुकार को, अपने लोक-प्रिय काव्य द्वारा जनता तक पहुँचाने का अवश्य प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से यदि हम इनको राष्ट्र तथा जाति के नेताओं में भी स्थान दें तो क्या अनुचित होगा? प्रत्येक नेता या पथप्रदर्शक का तरीका एक नहीं होता। गुप्तजी की वाणी में प्लेटफार्म पर बोलने वाले नेताओं की वाणी की अपेक्षा अधिक असर है, अधिक पायदारी है। उन्होंने भारतवर्ष के, अगली-पिछली कम से कम चार-पाँच दशाब्दियों तक के, जीवन-द्वन्द्व तथा उसके अन्तस्तल के विकल स्पन्दनों की व्यंजना व अभिव्यक्ति अपने प्रवाही, आप्लावी रागों द्वारा गा गा कर की है। उनको जो आजकल का प्रतिनिधि कवि कहा जाता है सो बिलकुल न्याय्य है।

बाबू जयशंकर प्रसाद

बाबू जयशंकर प्रसाद बनारस के रहने वाले थे तथा वहाँ के प्रसिद्ध बाबू देवीप्रसाद सुँघनीसाहु, जरदे के व्यापारी, के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १९४६ में माघ शुक्ला १२ को हुआ। हिंदी साहित्य के दुर्भाग्य से इन्हें अधिक आयु प्राप्त नहीं हुई। अभी, लगभग ढाई वर्ष पहले; इन्होंने क्षय से पीड़ित होकर सैंतालीस-अड़तालीस वर्ष की आयु में इस संसार से प्रयाण कर लिया।

प्रसाद जी की स्कूली शिक्षा अधिक नहीं थी। अल्पायु में ही अपने पिता, तथा कुछ वर्ष बाद, बड़े भाई को खो कर व्यापार का बोझ इन्हें सँभालना पड़ गया। परन्तु संस्कृत की ओर इनकी रुचि पहले से ही थी। अतः घर पर रहते हुए ही इन्होंने स्वाध्याय द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास, दर्शन आदि का खूब ज्ञान-संग्रह किया। बौद्ध दर्शन तथा बौद्ध संस्कृति से इन्हें विशेष रुचि मालूम होती थी। उसका इनकी भावधारा तथा विचारधारा पर प्रभाव भी पड़ा था। इनकी रचनाओं में, विशेषतः नाटकों में उस की झलक अच्छी तरह देखने में आती है।

प्रसाद जी ने अपनी काव्य-रचना बहुत पहले, बाल्योत्तर अवस्था के बाद से ही, आरम्भ कर दी थी। उस समय के इनके लिखे हुए दो-एक छोटे-छोटे नाटक 'सज्जन' आदि, तथा कुछ फुटकर काव्य मिलते हैं। यह भी कहा जाता है कि इनकी कई एक प्रारंभिक रचनाएँ अप्राप्य भी हो गई हैं। इनकी पहले की कविता ब्रजभाषा में है तथा नाटकों में भी पुरानी रचना-प्रवृत्ति ही दृष्टिगोचर होती है जिसका रूप भारतेन्दु ने प्रतिष्ठित किया था। उनमें खड़ी बोली की बात-चीत के बीच में ब्रजभाषा का पद्य देकर संस्कृत नाटकों की अनुसृति पर प्रसंगानुकूल किसी प्राकृतिक दृश्य को लेकर सिद्धान्त-निरूपण किया गया है। प्रसाद जी की पुरानी ब्रजभाषा कविता का एक उदाहरण जिसमें खड़ी बोली का भी पुट आगया है यहाँ दर्शनीय है—

पुलक उठे है रोम रोम खड़े स्वागत कों,
जागत हैं नैन-वल्ली पैं छवि छाओ तो,
मूरति तिहारी उर-अंतर खड़ी है, तुम्हे
देखिवे के हेतु, ताहि मुख दरसाओ तो

भरिकै उछाह सों उठे हैं भुज भेंटिबे को,
भेंटिबो को ताप क्यों 'प्रसाद' तरसाओ तो,
हिय हरखाओ, प्रेम-रस बरसाओ, आओ,
बेगि प्रान प्यारे! नेक कंठ सो लगाओ तो।

बौद्धदर्शन के प्रभाव से 'प्रसाद' की भावप्रणाली मे नियतिवाद तथा निराशावाद की प्रतिष्ठा भित्तिरूप मे हो जाती है। इस निराशा का उद्गम अपने प्रथम सोपान मे यौवन की पिपासा और उस की अतृप्ति से होता है। यौवन-पिपासा का रूप भावुक प्रेम है और अतृप्ति का परिणाम करुणा है। 'प्रसाद' की फुटकर रचनाओं में क्रमगति से प्रस्फुटित इस पिपासाजन्य अतृप्ति और करुणा का स्पष्ट और विशद रूप हमें उनकी प्रबंध-रचनाओ (नाटक, कहानी, उपन्यास और महाकाव्य) के स्त्री-पात्रों में अच्छी तरह देखने को मिलता है। यहाँ हम उसके विकसित उज्ज्वल रूप को भी देख लेते हैं जिसे यदि हम चाहे तो विकास पद्धति का दूसरा-तीसरा सोपान भी कह सकते हैं। अपने उज्ज्वल रूप में यौवन-पिपासा का भावुक प्रेम करुणा की विशालता को प्राप्त कर त्याग, आत्मदान, समर्पण और विग्रह का स्वरूप बन जाता है; करुणा साधना बन कर साम्यभाव, सेवा आदि का रूप ग्रहण कर लेती है। परन्तु जो प्रेम और अतृप्ति-वासनामय है उसका समर्थन 'प्रसाद' जी नहीं करते। उस वासना का क्षय होना ज़रूरी है। वासनापूर्ण प्रेम की अवस्था मे भी, वासना का क्षय होने के बाद पिपासु करुणा के ऊँचे स्वरूप का साधक बन कर मानव-समाज या विश्व के साथ अपने उद्देश्य का ऐकात्म्य स्थापित करता है।

साधना के इस पवित्र रूप में प्रथम निराशा पर प्रतिक्रिया होती

है। यह प्रतिक्रिया एक नई आशा का संदेश है; शान्ति जिसके साथ साथ फिरती है और मिलन, अथवा मिलन की कल्पना, जिसका स्वाभाविक उपलब्ध हो जाती है। यह मिलन एक भिन्न प्रकार का मिलन है, स्थूल संसर्ग की भावना से कोसों दूर, और वह सामर्थ्य तथा साहस का संचय करके लोक-कल्याण का अग्रदूत बनता है।

'प्रसाद' जी ईश्वर और संसार दोनों को मानते हैं। संसार उनके लिए मिथ्या नहीं है, अन्यथा करुणा और साधना का वह रूप संभव नहीं, जो ऊपर बताया गया है। करुणा के इस रूप के कारण ही शायद उनकी ईश्वरीय धारणा भी शिवरूप की मालूम होती है जैसा कि हमें 'कामायनी' ('प्रसाद' जी का महाकाव्य) से पता चला है। कहीं कहीं हम 'प्रसाद' के ईश्वर को प्रकृति में प्रतिबिंबित होते हुए भी देखते हैं, जैसा कि रहस्यवाद की भावना में देखा जाता है।

यथा—सुमन समूहों में सुहास करता है कौन,
मुकुलों में कौन मकरंद सा अनूप है,
मृदु मलयानिल सा माधुरी उषा में कौन,
स्पर्श करता है, हिमकाल में ज्यों धूप है।

अथवा—उषा सौंदर्यमयी मधु-कांति, अरुण-यौवन का उदय विशेष।
सहज-सुषमा मदिरा से मत्त, अहा कैसा नैसर्गिक वेश।
देखकर जिसे एक ही बार, हो गए हम भी है अनुरक्त।
देख लो तुम भी यदि निज रूप, तुम्हीं हो जाओगे आसक्त।
दृष्टि फिर गई तुम्हारी, किया—सृष्टि ने मधु-धारा में स्नान।
वह चली मन्दाकिनी मरन्द-भरी करती कोमल कल गान।

अब 'प्रसाद' जी की प्रेमपद्धति के भी दो-चार उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। प्रेम किस तरह, चुपके से हृदय-देश में प्रवेश कर अपना परिचय कराता तथा पिपासा को उद्दीप्त करता है सो इन उदाहरणों में देखा जा सकता है—

(क) हृदय गुफा थी शून्य, रहा घोर सूना।
इसे बसाऊँ शीघ्र, बढ़ा मन दूना॥
अतिथि आ गया एक, नहीं पहचाना।
हुए नहीं पद-शब्द, न मैंने जाना॥
हुआ बड़ा आनन्द, बसा घर मेरा।
मन को मिला विनोद, कर लिया घेरा॥
उसको कहते "प्रेम" अरे अब जाना।
लगे कठिन नखरेख, तभी पहचाना॥

(ख) मेरी आँखों की पुतली में, तू बन कर प्रान समाजा रे!
जिससे कन-कन में स्पन्दन हो, मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो—वह जीवन-गीत सुना जा रे!
खिंच जाय अधर पर वह रेखा—जिसमें अंकित हो मधु-लेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा, वह स्मित का चित्र बना जा रे!

फिर, प्रेम का स्वरूप जानने के बाद, उससे पिपासा की दीप्ति होने पर, अतृप्ति का भी रूप बनने लगता है—

भरा जी तुमको पाकर भी न, होगया छिछले जल का मीन।
विश्व भर का विश्वास अपार, सिन्धु सा तैर गया उस पार।
न हो जब मुझको ही संतोष, तुम्हारा इसमें क्या है दोष?

अतृप्ति से विरह में वेदना होती है। 'प्रसाद' की कविता में उसने तीव्र रूप धारण कर लिया है, यथा—

इस करुणा-कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती;
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती।
क्यों छलक रहा दुख मेरा ऊषा की मृदु पलकों में,
हाँ, उलझ रहा सुख मेरा संध्या की घन अलकों में।
बस गई एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में;
नक्षत्र-लोक फैला है जैसे इस नील निलय में।

तथा फिर—

छिल-छिल कर छाले फोड़े, मल-मल कर मृदुल चरण से।
धुल-धुल कर बह रह जाते, आँसू करुणा-के कण से॥

पर 'प्रसाद' की विरह-वेदना आत्महत्या करने वाली नहीं है। वह निरुद्देश्य, निष्क्रिय नहीं होती। उसकी प्रतीक्षा और आशा चलती ही रहती है—

परिश्रम करता हूँ अविराम, बनाता हूँ क्यारी औ कुंज।
सींचता दृग-जल से सानन्द, खिलेगा कभी मल्लिका-पुंज॥
नई कोंपल में से कोकिल, कभी किलकारेगा सानन्द।
एक क्षण बैठ हमारे पास, पिला दोगे मदिरा मकरंद॥
मूक हो मतवाली ममता, खिलें फूलों-से विश्व अनन्त।
चेतना बने अधीर मिलिंद, आह, वह आवे विमल वसंत॥

'मतवाली ममता' को मूक कर देने की प्रवृत्ति में जहाँ एक ओर विरह की तीव्रता तथा असहायता का विलीयमान स्वर है वहीं, अपने दूसरे रूप में, वह हमें आगे आने वाली उस सक्रिय वृत्ति के लिए तैयार करती है जो निराशा में संतोष लाकर विरह को लोक-कल्याण का साधन बनाती चलती है। वियोग और मिलन की समरसता की पहली पद्धति के आरंभ में कवि पूछता है—

वाणी मस्त हुई अपने में, उससे कुछ न कहा जाता;
गद्‌गद् कंठ स्वयं सुनता है जो कुछ है वह कह जाता;
जीवनधन ! यह आज हुआ क्या बतलाओ मत मौन रहो,
बाह्य वियोग, मिलन या मनका, इसका कारण कौन कहो ?

इसके आगे प्रेम और विरह की विशालता का रूप प्रतिष्ठित होता है और कवि पूछना छोड़ कर उद्‌बोधन के साथ निष्कर्ष कथन करता है—

आँसू-वर्षा से सिंचकर दोनों ही कूल हरा हो,
उस शरद-प्रसन्न-नदी में जीवन-द्रव अमल भरा हो।
हैं पड़ी हुई मुँह ढक कर मन की जितनी पीड़ाएँ,
वे हँसने लगें सुमन-सी करती कोमल क्रीड़ाएँ।
जगती का कलुष अपावन तेरी विदग्धता पावे,
फिर निखर उठे निर्मलता यह पाप पुण्य हो जावे।
निर्मम जगती को तेरा मंगलमय मिले उजाला,
इस जलते हुए हृदय की कल्याणी शीतल ज्वाला।

प्रेम और विरह-वेदना के इस करुणामय आवर्तन के लिए, जिसमें करुणा अन्त में अपने लिए न रह कर दूसरों के लिए निखर जाती है, स्त्री का कोमल हृदय अथवा प्रकृति का विशाल वक्ष ही समुचित अधार-स्थल है। पुरुष में स्वार्थ की मात्रा अधिक रहती है। पुरुष कठोर होता है, वह जीवन के कठिन कर्मों के लिए बना है, प्रेम का व्यापक स्वरूप उसमें प्रतिफलित होने की गुँजाइश कम है और जहाँ वह संकीर्ण हृदय नहीं है वहाँ उसमें चरित्र का मंगलाधार एक व्यापक कर्तव्यबुद्धि है—व्यक्तिगत प्रेमलालसा की सुदूर परिणति नहीं। 'प्रसाद' की प्रबन्ध-रचनाओं में हम

अधिकतर इसी बात को देखते हैं; उनके स्त्रीपात्रों में प्रेम का लोककरुणामय रूप विशेषतया विकसित होता है। फुटकर पद्यों में विकास का स्थान नहीं होता। इसीलिए प्रेमलालसा से लगा कर करुणा के संदेश तक सारी पद्धतियाँ किसी एक पद में मिलना कठिन है और इसीलिए शायद, हम कवि को स्फुट पदों में स्त्री की भाँति बोलता हुआ भी नहीं पाते।

परन्तु साथ ही हम उसे किसी प्रेय स्त्री को भी सम्बोधित करता हुआ प्रायः नहीं पाते, यद्यपि प्रेमी पुरुष की भी परिस्थिति 'प्रसाद' की भावना से बहिर्गत नहीं है। प्रेय को सामान्यलिंग मानने की शायद एक परिपाटी भी है जो उर्दू की शायरी में अथवा रहस्यवादी रचनाओं में प्रधान रूप से देखने में आती है। पर, यह भी ध्यान रखने की बात है कि भारतीय विचार-परंपरा में प्रेम की प्रथम प्रेरणा स्त्री की ओर से ही होती है। यह बात 'प्रसाद' की प्रबन्ध रचनाओं में भी देखने में आती है। अतः 'प्रसाद' के स्फुट पद्यों में जहाँ भौतिक प्रेम का आधार है वहाँ, बोलनेवाला और सुननेवाला पुरुष होते हुए भी, प्रसाद का आदर्श उनके प्रबन्धों के स्त्री पात्रों को ही मानना कदाचित् अधिक ठीक होगा। स्फुट पद्यों में की अवस्थाओं की व्यंजना के लिए कवि ने अधिकतर प्रकृति का सहारा लिया है और कहीं कहीं इस व्यंजना द्वारा एक काफ़ी लबी चरित्र कथा भी कह दी है। यथा—

कितने दिन जीवन जलनिधि में—
विकल अनिल से प्रेरित होकर लहरी, कूल चूमने चलकर
उठती-गिरती-सी रुक रुक कर सृजन करेगी छवि गति-विधि में
कितनी मधु-संगीत-निनादित गाथाएँ निज ले चिर-संचित

तरल तान गावेगी वंचित ! पागल-सी इस पथ निरवधि में !
दिनकर हिमकर तारा के दल इसके मुकुर वक्ष में निर्मल
चित्र बनायेंगे निज चंचल ! आशा की माधुरी अवधि में !

इसी प्रकार—

निर्झर कौन बहुत बल खाकर, बिलखाता ठुकराता फिरता ?
खोज रहा है स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता ॥
किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है ।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है ॥

ऊपर कहा जा चुका है कि 'प्रसाद' की विचार धारा में ईश्वर और संसार दोनो का अस्तित्व है। संसार में प्रेम (और कर्म प्रवाह) के नाते से नारी और पुरुष का निरन्तर द्वन्द्व है, जिसकी प्रतिक्रिया में सुख-दुःखो का द्वन्द्व भी (आशा और निराशा, वेदना और सांत्वना का रूप बनकर) वेगशील हो जाता है। प्रसाद ने द्वन्द्वों के बारे में कहा है—

"द्वन्द्वों का उद्‌गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मन्त्र !
डाली मे कंटक संग कुसुम खिलते मिलते हैं नवीन।"

द्वंद्वों की इस सत्ता मे स्त्री पुरुष का अपना अपना अलग विधान है जिस मे पुरुष का स्वार्थ और पुरुषत्व-मद—अधिकार भावना—उसे स्त्री से एक दम दूसरे सिरे पर रख देता है। परन्तु फिर भी दोनों में आकर्षण होता है; स्त्री खींचती भी है और खिंचती भी है—खिंचती अधिक है; पर पुरुष खिंचता हुआ भी अपने पुरुषत्व और मोह के कारण सुखी नहीं हो पाता—

"तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है संबन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।

तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय प्रकाश न ग्रहण किया।
हाँ जलन वासना को जीवन-भ्रम-तम में पहला स्थान दिया।"

इस परिस्थिति में 'प्रसाद जी' प्रेमी पुरुष को बतलाते हैं कि—
"पागल रे! वह (अर्थात् प्रेम) मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब।
तू क्यों फिर उठता है पुकार? मुझ को न मिला रे कभी प्यार!"

यह स्थिति दान, आत्मदान, की है और ऊपर बताई गई स्त्री की विश्व-करुणा से भिन्न है—इसमें पुरुष की स्वार्थप्रवृत्ति के कारण ममत्व का एकान्त लोप कराकर उस ममत्व को ही ऊंचा उठाने का उपदेश किया गया है। इसे हम प्रेम की पूर्वकथित व्यापक परिणति का उपदर्शनमात्र कह सकते हैं। पुरुष के प्रेम की दृष्टि से एक दूसरे प्रकार का उपदर्शन भी हमको वहाँ प्राप्त होता है जहाँ संसार की निराशाओं और वेदनाओं को संसार में छोड़ कर कवि किसी अलौकिक सुखलोक की कामना करता है, जिसमें यदि ईश्वर के सान्निध्य का भी संदेह कर लिया जाय तो बुद्धि का अत्याचार न होगा। जैसे नीचे के गीत में—

ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक! धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी, अंबर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे।
जहाँ साँझ-सी जीवन छाया, ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो ताराओं की पाँति घनी रे।
जिस गंभीर मधुर छाया में, विश्व चित्र-पट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई, दुख-सुख-वाली सत्य बनी रे।
श्रम-विश्राम क्षितिज वेला से—जहाँ सृजन करते मेला से ..
अमर जागरण उषा नयन से—बिखराती हो ज्योति घनी रे।

प्रसाद की विचारधारा के इन मूल तथ्यों को ग्रहण कर लेने के बाद हमको यह जान लेने में भी आश्चर्य न होगा कि प्रेम के द्वारा संचित उनकी लोकभावना अपने विस्तार को प्राप्त होकर स्थान स्थान पर सामाजिकता और राष्ट्रीयता के उद्देश्यों को भी भली भाँति प्रदर्शित करती है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में, विशेषतः 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'स्कन्दगुप्त' में, ये उद्देश्य अपने खूब विशद रूप में प्रस्फुटित हुए हैं। पर कहीं कहीं अपने काव्य में भी 'प्रसाद' ने उनकी अच्छी झलक दिखाई है। भारत में की जाती हुई वर्तमान शोषण-नीति और यहाँ प्रसार कराई गई कृत्रिम सभ्यता से उत्पन्न मानसिक अधोवृत्ति का 'कामायनी' में ओजपूर्ण परन्तु याथातथ्य, वर्णन किया गया है। अपने भोग और ऐश्वर्य मद मे भूले हुए मनु की प्रजा उनके मिथ्या समाधानों के उत्तर मे विद्रोही बन कर उनको इस प्रकार प्रत्याहूत करती है—

"देखो पाप पुकार उठा अपने ही मुख से।
तुमने योगक्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखा कर इस विचार-संकट में डाला।
हम संवेदन-शील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बना कर निज कृत्रिम दुख।
प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।
और इड़ा पर यह क्या अत्याचार किया है?
इसीलिए तू हम सब के बल यहाँ जिया है?
आज बन्दिनी मेरी रानी इड़ा कहाँ है?
ओ मायावर! अब तेरा निस्तार कहाँ है?"

मनु के जिन शब्दों के उत्तर में यह ललकार दी गई है वे भी वैसे ही हैं जैसे कि पिछले जंगली (?) भारत पर अहसान करने वाले लोगों द्वारा प्रायः कहे जाया करते हैं, यथा—

"तुम्हें तृप्ति-कर सुख के साधन सकल बताया,
मैंने ही श्रम भाग* किया फिर वर्ग बनाया।
अत्याचार प्रकृति कृत हम सब जो सहते हैं,
करते कुछ प्रतिकार न अब हम चुप रहते हैं।
आज न पशु हैं हम, या गूँगे काननचारी,
यह उपकृति क्या भूल गये तुम आज हमारी।"

यहाँ तक हमने 'प्रसाद' की विचारधारा के स्थूल रूप का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है। प्रसाद के विचारों में दार्शनिकता, गंभीर तत्त्व-चिन्ता, का प्राधान्य है। उसमें हमें उनके आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। परन्तु ऊपर के अनेक उदाहरणों से हमें यह भी पता चलता है कि विचार सिद्धान्त के साथ-साथ भाव भी उतने ही वेग से चलते हैं। 'प्रसाद' के कविकर्म में हमें यह बड़ी भारी बात मिलती है, जो प्रायः अधिकांश कवियों में कठिनता से ही उपलब्ध होती है, कि इनमें विचार और भाव दोनों समान रूप से प्रधान होते हुए एक ऐसी भूमि पर आपस में मिलते हैं जहाँ वे एक हो जाते हैं, उनका भेद दूर हो जाता है। ऊपर कितने ही उदाहरणों में यह बात देखी जा सकती है। अथवा निर्दिष्ट रूप से, 'ले चल वहाँ भुलावा देकर' या 'कितने दिन जीवन जलनिधि में' या 'आँसू वर्षा से खिचकर' आदि कविताओं

---

* वर्णव्यवस्था या, आजकल के अर्थविज्ञान की परिभाषा में Division of Labour.

में हम देख सकते हैं कि विचार और भाव को अलग अलग कर देना एक दुष्कर कार्य है। तथापि, इन सब में अवश्य एक गहरी भावुकता है, और साथ ही एक सुनिश्चित सिद्धान्त भी। सिद्धान्त के रूप में आदर्शवाद और भाव के रूप में यथार्थवाद का इनमे मनोहर सम्मिलन है।

'प्रसाद' की यह विशेषता, वास्तव में, उनकी पद्धति की विशेषता है। भाव में उद्देश्य ढूँढना इस कवि की विशेष रुचि मालूम होती है। विचार और भाव को एक सूत्र में जोड़ने की विशेष साधन बनती है प्रकृति। प्रकृति अपने मनोमोहक रतिरूप में खड़ी होकर जैसे एक इंगित सा करती हो जो जीवन को किसी निश्चित दिशा मे ले आने की, अथवा जीवन के अभिप्राय को चित्र द्वारा दिखाने की, संसूचना देता है। यह प्रवृत्ति छायावाद तथा रहस्यवाद की प्रवृत्ति है।

छायावाद प्रकृति में मनुष्य का, मानवजीवन का प्रतिबिंब देखता है। रहस्यवाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का। रहस्यवाद में 'प्रतिबिंब' कहना शायद उचित नहीं है—'रहस्य' और 'छाया' शब्दों के भेद के कारण। ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है। इसलिए छाया मनुष्य की, व्यक्त की, ही देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है। जब वह हमारे भावों को ठेस देता है तो हम उसे प्रकृति मे ढूँढने की कोशिश करते हैं।

जिस प्रकार से रहस्यवादियों के दो वर्ग होते हैं—विचारक और कवि—उसी तरह छायावादियों के भी होते हैं। अन्योक्ति कह कर उपदेश देने वाले भी छायावादी ही होते हैं परन्तु उनमें

कवित्व विशेष नहीं होता, जैसे दीनदयाल गिरि। जयशंकर 'प्रसाद' कवि हैं। उन्होंने अपने भावुक हृदय द्वारा विचार और भावना को एक कर दिया है। वे बाह्य परिस्थितियों की भावुकता से बहुत गहरे उतर कर परिस्थितियों के संचालक, अथवा उनसे संचालित, जीवनरहस्यों से उद्वेलित होते हैं और प्रकृति को दर्पण अथवा प्रतिभासक यंत्र (Reflector) बना कर, अतिरिक्त प्रकाश का संग्रह करने की पद्धति से, अथवा उस प्रकार को केन्द्रीभूत करने की पद्धति से, अपनी भावुकता का उन्मेष करते हैं। भावुकता-प्रधान इस आधुनिक ढंग के छायावाद तथा रहस्यवाद के वे हिन्दी में सर्गकर्ता समझे जाते हैं। इस समझने में कोई बड़ी अतिरंजन नहीं हैं।

छायावाद के इस आधुनिक रूप मे भावना का अतिरेक इतना अधिक है कि वस्तु और उसकी दर्पणगत छाया एक होते होते वह अवस्था पैदा कर देती है जिसमें कि छाया ही फिर बाद में मुख्य बन जाती है। दर्पण के सामने बैठा हुआ व्यक्ति दर्पण में अपनी कांति को देखता-देखता इतना मुग्ध हो जाता है कि वह उस छाया-कांति में ही स्वविषयक भावुकता का आरोप करने लगता है। इस आरोपक्रिया में प्रकृत और अप्रकृत का विपर्यय भी प्रायः हो जाना स्वाभाविक है, जिससे अमूर्त और निर्जीव में मूर्ति और जीव का निवास होने लगता है। जड़ में सजीवता लाने से ही अमूर्त में मूर्ति का आरोप होता है; क्योंकि जड़ में जो सजीव के गुण आदि प्रविष्ट हो जाते हैं वे स्वयं अमूर्त होते हुए भी, सजीवता के निर्वाह के लिए, मूर्तक्रिया आदि का आश्रय बन जाते हैं, इस प्रकार नाव को पगली कह दिया जाता

है, 'लहरें व्योम चूम उठतीं' हैं, 'चेतना...बिलखाती' है (कामायनी, पृष्ठ १६-१७) अथवा एक दूसरा उदाहरण देखें—

जलधि लहरियों की अँगड़ाई बार बार जाती सोने।

इस पंक्ति में लहरियों में सोकर उठने के आलस्य रूपी सजीव गुण का अँगड़ाई-शब्द द्वारा आरोप किया गया है, फिर साथ ही साथ उस गुण (अमूर्त आलस्य) में मूर्त अनुभाव-क्रिया 'अंगड़ाई लेने' और 'सोने जाने' का आरोप है। पूरा उदाहरण सोकर उठी हुई नायिका का अप्रस्तुत है; परन्तु वस्तुच्छाया की प्रत्यक्षता, दृश्यांकन (imagery) की कुशल वास्तविकता के कारण वही भाव-दृष्टि से प्रस्तुत हो उठा है।

परन्तु ऊपर की पंक्ति 'कामायनी' के प्रसंग का अंग है और उस प्रसंग के साथ ग्रहण की जाने पर वह स्वयं प्रस्तुत ही है और यथार्थ मे, छायावाद का उदाहरण नहीं है। उसमे प्रकृति ही वर्ण्य है। पर छायावाद के सम्बन्ध में कई लोगों मे एक प्रकार की भ्रांत धारणा है। जड़ अथवा अमूर्तों के वर्णन में कहीं कहीं बहुत अधिक लाक्षणिकता आ जाने से बहुत से लोगो के लिए कथन मे जो एक अस्पष्टता पैदा हो जाती है उसी को वे 'छायावाद' कहने लगते हैं। ऊपर के उदाहरण में इस प्रकार की लाक्षणिकता खूब है, परन्तु उसमें अस्पष्टता नहीं है। पर—

जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए।

या— कौन हो तुम विश्वमाया कुहक सी साकार

प्राणसत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार ?"

में लाक्षणिकता बहुत दूर तक गई है। जिससे व्यंग्य भी गहन हो जाता है और सर्वसाधारण के लिए इन शब्दो मे अस्पष्टता आ जाती

है। किसी मूर्त को अमूर्त अव्यक्त उपमान द्वारा दृष्टिगोचर करने मे जहाँ अमूर्त उपमान में मूर्तता लाई जाकर उसे अधिक प्रभावपूर्ण बनाने की 'प्रसाद' की चेष्टा रहती है वहीं मूर्त उपमेय को भावरूप मे समझाने का उनका प्रयत्न भी दर्शनीय है। क्योंकि किसी भी पदार्थ का जीवन में हमारे लिये जो भी महत्त्व है वह हमारे चेतन जीवन के साथ उसके भावरूप सामंजस्य से ही है। 'जिह्वा' का अर्थ और कुछ नहीं, केवल उस की स्वादशक्ति ही है और इसीसे उसके लिए गुड भी एक मीठा पदार्थ समझा जाता है। परन्तु जिस जिह्वा को गुड़मार घास द्वारा जड़ीकृत कर दिया गया है वह न तो स्वयं ही जिह्वा रहती है और न उसके लिए गुड़ का अस्तित्व रहता है।

भावमय जगत में इस प्रकार बात कहने का रिवाज पुराना है; मनुष्य प्रायः किसी प्रियजन से कहा करते हैं 'तुम्हीं मेरे जीवन का सुख हो' परन्तु यही पद्धति कविता में जब बहुत अधिक व्यंग्य मार्ग का अनुसरण करने लगती है तो वह साधारण प्रतिपत्ति वाले या कम भावुकता वाले लोगों के लिए दुर्बोध्य और निरर्थक हो उठती है और कोरा शास्त्रपरिचय ही उसको पूरी तरह नहीं सुलझा सकता। शास्त्र के अनुसार उपमान या अप्रस्तुत कोई अति प्रसिद्ध, चमत्कारी, और साधारण धर्म में उपमेय से अधिक विशिष्ट, पदार्थ होना चाहिए। ऐसी दशा मे 'कौतूहल' अथवा 'विश्वमाया-कुहक' अथवा 'प्राणसत्ता के मनोहर भेद' का उपमानत्व शास्त्र की समझ मे आना कठिन है। स्वयं प्रकृति-जन्य होने के कारण, प्रकृत के प्रति इन उपमानों का अप्रकृतत्व शास्त्र की दृष्टि में शायद अप्रयोज्य भी हो। तथापि प्रकृतजन्य

उपमेयों या उपमानों का भी साधारण कहने-सुनने में प्रयोग न होता हो, सो बात तो नहीं है। अपने पिता से सूरत-शक्ल मे हू-ब-हू मिलने वाले पुत्र से हम कहते हैं 'तुम बिलकुल अपने पिता के समान हो' अथवा तुम अपने पिता के प्रतिरूप हो; किसी बड़े कारीगर की बड़ी अच्छी कारीगरी को देख कर भी हम कहते हैं 'यह, कृति कलाकार की कला की साक्षात् मूर्ति है।'

वास्तव में यदि देखा जाय तो, किसी वस्तु के सच्चे भाव का सच्चा ग्रहण इस प्रकार की कल्पनाओं में ही अधिक अच्छा होता है। जो व्यक्ति "कौतूहल' अथवा 'विश्वमाया कुहक' या 'प्राणसत्ता के मनोहर भेद' के समान बताया जाता है, वह वास्तव मे वक्ता के लिए 'कौतूहल' या 'कुहक' या 'मनोहर भेद' के भावों का प्रतीक है। यदि उससे वक्ता मे ये भाव पैदा न हों तो वक्ता के लिए उसका अस्तित्व ही नहीं है। 'उस' का और 'कौतूहल' आदि का उपस्थित होना वक्ता के लिए समकालिक है और यह दोनो 'उपस्थित होने', इसलिए, वक्ता की दृष्टि में एक ही पदार्थ हैं। तब क्या यह कहा जा सकता है कि 'उस'—प्रकृत के लिए 'कौतूहल' आदि से अधिक उपयुक्त दूसरा उपमान भी कोई हो सकता था? हमारी समझ में जितनी सचाई और वास्तविकता इन उपमानों में है उतनी लोकश्रुत उपमानो मे नहीं होती। 'चंद्रमा', 'पंकज' आदि, फिर भी, अपेक्षा की दृष्टि से, कृत्रिम से ही मालूम होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं की उपमान-कथन में सर्वत्र लाक्षणिकता और अतिशयोक्ति रहती है, जिससे कथन के तत्त्व-बोध में कृत्रिमता भी अवश्य आ ही जाती है। परन्तु उपमानों के प्रयोग

मे तत्त्वबोध से हमारा कोई काम नहीं रहता—हमारा काम भावबोध से रहता है। इसीलिए 'चंद्रमा' और 'पंकज' की कृत्रिमता हमें नहीं खटकती। पर 'चन्द्रमा' और 'पंकज' लक्षणा मे रूढ़ हो गए हैं, और जो लक्षणाप्रयोग रूढ हो जाते हैं उन्हें सर्वसाधारण आसानी में समझ लेते हैं। उनकी कृत्रिमता का उन्हें ध्यान नहीं होता। 'प्रसाद' की लाक्षणिकता रूढि के अवलंब पर स्थित नहीं है, वह प्रयोजन के हेतु से सकर्मण्य है। उसका प्रयोजन भाव के अधिक से अधिक साक्षात्कार का रहता है। भाव एक बड़ी जटिल वस्तु है। उसको जितना ही खोलो उतनी ही तह पर तह उसमें से निकलती चली आती है, जिससे लाक्षणिकता के बाद जो व्यंजना आती है वह भी अधिक गहन होने लगती है। 'विश्व-माया-कुहक', और उसके साथ साथ 'प्राणसत्ता के मनोहर भेद', का विश्लेषण करने से हमे इस प्रकार की 'तह पर तह' का पता लगने लगेगा। जनसाधारण की पहुँच कम होने से, वे भावों की इन तहो को देख नहीं सकते, उनके लिए इस प्रकार की कविता अर्थहीन और अस्पष्ट है जिसके कारण वे उसे 'नये स्कूल की छायावादी पद्य-रचना' कह देने में अपना विद्यागौरव समझते हैं। पर ऊपर के इन दोनो उदाहरणों मे भी छायावाद नहीं है।

हाँ भावों की गहराई के कारण 'प्रसाद' में अस्पष्टता अवश्य है। यह स्वाभाविक है। भावो मे गहरे उतरने का अर्थ ही है अस्पष्टता में भ्रमण करना। यदि जीवन का रूप भाव और भाव की प्रेरणा है तो अस्पष्टता स्वयं जीवन का ही एक तत्त्व है। जो लोग विचार और शुष्क विवेक को बहुत अधिक महत्त्व देते

है उन्हें भी भावों की प्रधानता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। जीवन का संचालन जितना भावों से होता है उतना विचारों से नहीं। वस्तुतः जहाँ विचार कार्य करता है वहाँ भी न मालूम भाव किधर से छिप आकर विचार समर्थक और प्रेरक बन जाता है। 'प्रसाद' ने विचारों और भावों के इस अन्योन्याश्रय को खूब पहचाना है। प्रायः हम देखते हैं कि उनकी भावुकता मन के किसी विषय को लेकर उत्पन्न होती है और विचार कभी भावुकता के किसी विषय को लेकर उठते हैं। अकसर दोनों में पारंपर्य की कई कई सरणियाँ देखने में आती हैं। इसके कारण, तथा भावुकता की गहरी पहुँच में अमूर्त उपमान आदि अथवा जड़ता में सजीवता के आरोप आदि के कारण, 'प्रसाद' की कविता में हमको यदि अस्पष्टता दिखाई देती है तो वह जीवन की ही अस्पष्टता है। जो कवि जीवन की अस्पष्टता को ठीक ठीक समझ कर उसका वास्तविक भावुकतामय रूप दिखा सकता वह सचमुच बड़ा भारी कवि है। प्रसाद ने एक स्थान पर कहलाया है—" ...विकल रंग भर देती हो। अस्फुट रेखा की सीमा में आकार कला को देती हो।" परन्तु हाँ, जिस कवि की अस्पष्टता, अनुभूति से रिक्त होकर, उसकी समझ और भावुकता की असामर्थ्य से उत्पन्न होती है वह हेय है। अस्पष्टता की भी एक बड़ी ऊँची फिलॉसफ़ी है। 'नेति नेति' अथवा 'स्याद्वाद' के दार्शनिक अस्पष्टवादी ही हैं। कवि कोरा दार्शनिक नहीं होता। वह जड़दर्शन को अपनी अनुभूति की भावुकता से सजीव, स्पन्दनयुक्त, वस्तु बना देता है। 'प्रसाद' को हम इसी कोटि का दार्शनिक कवि समझते हैं।

'प्रसाद' को समझने में जो कठिनता होती है उसका एक कारण यह भी है कि हम प्रायः उनकी पद्धति को समझने की चेष्टा नहीं करते। इस ऊपर के विवेचन द्वारा उनकी काव्य-पद्धति को थोड़ा-बहुत समझने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त उनकी शैली का एक अन्य अति प्रधान गुण है 'अद्भुत'-प्रियता या 'रोमांस' (romance) की प्रवृत्ति। उनके काव्य में जीवन के रोमांस के साथ साथ शैली की 'अद्भुत'-ता बराबर चलती है। प्रबन्ध-रचनाओं मे यह तत्त्व विशेष रूप से देखने में आता है।

छायावाद का मोटा लक्षण ऊपर दिया जा चुका है। मनुष्य-प्रकृति और जड़-प्रकृति के सामंजस्य की भावना ही अपने अधिक विकास में छायावाद को जन्म देती है, जिसमें प्रकृति जीवन का प्रतीक बन जाती है। 'प्रसाद' की दो एक छायावादी कविताएँ ऊपर उद्धृत की जा चुकी हैं। एक उदाहरण और देते हैं—

रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।
गूँज उठी तेरी पुकार—'कुछ मुझको भी दे देना—
कन कन बिखरा विभव दान कर अपना यश ले लेना।'
दुःख-सुख के दोनों डग भरता वहन कर रहा गान,
जीवन का दिन पथ चलने में कर देगा तू रात।
तू बढ जाता अरे अकिंचन, छोड करुण स्वर अपना,
सोनेवाले जग कर देखें अपने सुख का सपना।

रहस्यवाद का एक नया उदाहरण यह है—

महानील इस परम व्योम में, अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से संधान!
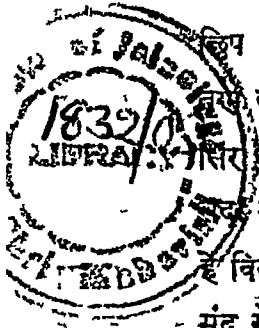
छिप जाते है और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए ?
तृण वीरुध लहलहे हो रहे, किसके रस से सिंचे हुए ?
सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?
हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम कुछ हो ऐसा होता भान—
मंद गँभीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान।

छायावादी और रहस्यवादी कवि होने की हैसियत से प्रकृति को इन्होने जिस रूप से अपनाया है उसमे इनकी दृश्यचित्रण की सहज सामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है। नीचे के उद्धरणो मे प्रलय का कितना सुन्दर—अद्वितीय वर्णन है, जिस में काव्य शास्त्री एक साथ कई कई रस ढूँढ सकते हैं—

दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के !
सघन गगन में भीम प्रकंपन झंझा के चलते झटके।
पंचभूत का भैरव मिश्रण, शंपाओं के शकल निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।
उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी,
चली आरही फेन उगलती फन फैलाये व्यालों सी।
धँसती धरा धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निश्वास,
और संकुचित क्रमश उसके अवयव का होता था ह्रास।
सबल तरंगाघातों से उस क्रुद्ध सिंधु के, विचलित सी
व्यस्त महाकच्छप सी धरणी, ऊभ-चूभ थी विकलित सी।
करका क्रंदन करती गिरती और कुचलना था सबका;
पंचभूत का यह ताडवमय नृत्य हो रहा था कब का।

रूप वर्णन का भी एक उदाहरण नीचे देखा जा सकता है—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि मंडल उनको भेद, दिखाई देता हो छवि धाम।
घिर रहे थे घुँघराले बाल अंस अवलंबित मुख के पास,
नील घन-शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुसक्यान! रक्त किसलय पर ले विश्राम,
अरुण की एक किरण अम्लान अधिक अलसाई हो अभिराम।

प्रेम और विरह की हार्दिक वृत्तियों को लेकर जो भावुकता उत्पन्न होती है, उसके दो-एक उदाहरण ऊपर आ गए हैं। पर 'कामायनी' के विरह-वर्णन की भावुकता साहित्य में एक नई चीज है और उसकी महामूल्य संपत्ति है। नीचे उदाहरण स्वरूप उसमें से कुछ पद्य दिए जाते हैं, जिनमें पहले दो कवि द्वारा वर्णन के रूप में हैं, शेष कामायनी के विलाप के रूप में है—

(क) कामायनी कुसुम वसुधा पर, पड़ी, न वह मकरंद रहा,
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ
वह प्रभात का हीन-कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ!

(ख) "एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक साकार रही,
हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नहीं।

(ग) "आज सुनूँ केवल चुप होकर, कोकिल जो चाहे कह ले,
पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले,

इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या,
कामायनि ! तू हृदय कड़ा कर धीरे धीरे सब सहले।

(घ) वे आलिंगन एक पाश थे स्मिति चपला थी, आज कहाँ ?
और मधुर विश्वास ! अरे वह पागल मन का मोह रहा,
वंचित जीवन बना समर्पण यह अभिमान अकिंचन का,
कभी दे दिया था कुछ मैंने, ऐसा अब अनुमान रहा।

(ङ) "वे कुछ दिन जो हँसते आए अंतरिक्ष अरुणाचल से,
फूलों की भरमार स्वरों का कूजन लिये कुहक बल से,
फैल गई जब स्मिति की माया, किरन कली की क्रीड़ा से,
चिर प्रवास में चले गए वे आने को कह कर छल से !

(च) "बन बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से,
लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से;
किंतु न आया वह परदेसी युग छिप गया प्रतीक्षा में,
रजनी की भीगी पलकों से तुहिन बिंदुकण-कण बरसे।"

'कामायनी' 'प्रसाद' जी का महाकाव्य है। इसका आधार मानव सृष्टि के आदि पुरुष मनु की कथा है। मनु और मानव-सृष्टि की कथा के संबंध में तरह तरह के मत हैं। 'प्रसाद' स्वयं उस कथा को ऐतिहासिक मानने को तैयार हैं; परन्तु अन्यान्य व्याख्याताओं के अनुसार उसे रूपक या दृष्टांत(allegory) भी माना जा सकता है। हमारा भी निजी विचार यही है कि 'कामायनी' एक रूपक-रचना है। मन के विकास के साथ साथ संसृति के विकास के पुराने दार्शनिक या आध्यात्मिक सिद्धान्त को लेकर कवि ने अपनी अपूर्व प्रतिभा और सहानुभूति के साथ उसे लौकिक कथा का मनोहर रूप दे दिया है। यथार्थ बात तो

हुई है उसने कथा के आध्यात्मिक और ऐतिहासिक दोनों ही पक्षों को दृष्टिगत रक्खा है। इस प्रकार की रचना का भारतीय (?) साहित्य में यह शायद पहला श्रेष्ठ और सफल प्रयास है। 'प्रबंध-चन्द्रोदय' आदि रूपक तो हैं, पर वे काव्य नहीं बन सके।

जयशंकर 'प्रसाद' की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। गद्य और पद्य दोनों, में उनकी अबाध गति थी। उन्होंने व्रज भाषा और खड़ी बोली, दोनों ही, में अच्छी कविता और स्फुट पद्य, गीतिकाव्य तथा प्रबंधकाव्य लिखे। गद्य, में नाटक—उपन्यास, कहानी, निबंध ये सभी उनकी लेखनी के विषय बने और सभी में—उपन्यासों को छोड़कर—उन्होंने अद्वितीय कुशलता दिखलाई। छायावादी कविता, नाटक तथा कहानी के लिए तो वे हिन्दी-संसार मे युगप्रवर्तक के रूप में ही अवतीर्ण हुए। यह सच है कि उनकी कला क्रमशः विकसित हुई, परन्तु उनका रचना-कार्य बहुत छोटी अवस्था मे ही आरंभ हो गया था और उनकी प्रारंभिक रचनाओं में ही उनके उच्चतम विकास के बीज मौजूद थे। यही प्रतिभा की शुद्ध पहचान है। इतनी थोड़ी आयु पाकर, गृहस्थी और व्यवसाय का भार सँभालते हुए भी, उन्होंने जितना अधिक और जैसा श्रेष्ठ साहित्य हमें दिया है उसे देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वे साहित्य-संसार मे एक असाधारण व्यक्तित्व के महापुरुष थे जैसे कि कभी कभी, एक पूरे युग में ही, पथप्रदर्शन के लिए अवतार लिया करते हैं।

प्रभाकर के लिए हिंदी-भवन परीक्षा सीरीज़

- काव्य शिक्षा की प्रश्नोत्तरी (गणेश शर्मा)
- अलंकार चार्ट (गणेश शर्मा)
- कामायनी की कुंजी (विश्वंभर मानव)
- कामायनी एकदृष्टि में (व्यास)
- दोहा मानसरोवर की कुंजी (शीलभद्र, हरिश्चन्द्र) ...
- तरंगिणी की कुंजी (विश्वम्भर मानव)
- रामभक्ति शाखा की प्रश्नोत्तरी (पद्मसिंह शर्मा) .
- नाट्य विमर्श की प्रश्नोत्तरी (गणेश शर्मा) ...
- नाट्य विमर्श चार्ट (गणेश शर्मा) ...
- विक्रमादित्य की कुंजी (सत्यपाल) ..
- साहित्य मीमांसा की प्रश्नोत्तरी (कृष्णचन्द्र विद्यालंकार)...
- साहित्यमीमांसा चार्ट (व्यास) .
- हिन्दी साहित्य का इतिहास की प्रश्नोत्तरी (गोपालप्रसाद व्या
- हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त विवरण (व्यास) ...
- आलोचनासमुच्चय की प्रश्नोत्तरी (विश्वम्भर मानव) ..
- मानव जाति का संघर्ष की प्रश्नोत्तरी (कृष्णचंद्र विद्यालंकार)
- वर्त्तमान जगत (कृष्णचंद्र विद्यालंकार) :
- प्रबंध प्रभाकर (बाबू गुलाबराय एम० ए०) ..
- अपठित हिंदी रचना तत्त्व (रामकृष्ण शुक्ल) ..

परीक्षा में निश्चित सफलता के लिए यह सीरीज़ रामबाण